भारतीय वाङ्मय में ध्यान-योग : एक विश्लेषण

—डा. साध्वी प्रियदर्शना

(स्वर्गीया साध्वीरत्न उज्ज्वलकुमारी जी म० की सुशिष्या)

भारतीय संस्कृति विश्व की एक महान् संस्कृति है। यह संस्कृति त्रिधाराओं में विभक्त है। एक वैदिक धारा है, दूसरी बौद्ध धारा है और तीसरी जैनधारा है। तीनों धाराओं में ध्यान की परम्परा अविरल रूप से प्रवाहित है। उन धाराओं के शास्त्र, ग्रन्थ एवं साहित्य का अवलोकन और चिन्तन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ध्यान की विचारधारा अति प्राचीन है। वेद, उपनिषद्, त्रिपिटक, आगम तथा अन्य दर्शनों के वैचारिक सम्प्रदायों में परवर्ती चिन्तकों के दार्शनिक संप्रदायों में भी यह विचारधारा देखने को मिलती है। फिर भी जैन धर्म में वर्णित ध्यान-योग की विचारधारा को विस्तृत, व्यापक एवं स्पष्ट रूप से जन-जन के सामने प्रकाश में लाना अत्यावश्यक है। चूँकि जन मानस में एक ऐसी भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि जैन धर्म में ध्यान का कोई विशेष विश्लेषण नहीं है और वर्तमान में ध्यान की परम्परा प्रायः लुप्त सी है इस विचारधारा को स्पष्ट करने और उसे अपने निज स्वरूप में लाने के उद्देश्य से ही "ध्यानयोग" पर एक चिन्तन प्रस्तुत कर रही हूँ।

संसार में यत्र-तत्र-सर्वत्र सभी प्राणी नाना प्रकार के आधि (मन की बीमारी), व्याधि (शरीर की बीमारी) और उपाधि (भावना की बीमारी, कषायादि) से संत्रस्त हैं, वे दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं, किन्तु मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। इसका एकमात्र कारण है श्रद्धा का अभाव। जिन्हें वीतराग प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा है वे तो दुःखों से मुक्ति पा लेते हैं पर जिनमें श्रद्धा का अभाव है वे चारों गति में चक्कर लगाते रहते हैं। संसार चक्र से मुक्ति पाने के लिए सही पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष पुरुषार्थ ही सही पुरुषार्थ है। उसके लिये धर्म साधना जरूरी है। साधन और साध्य, कारण और कार्य का अविनाभाव सम्बन्ध है। जैसा साधन होगा वैसा साध्य प्राप्त होगा। साधन दो प्रकार के हैं—भौतिक और आध्यात्मिक। हमें तो आध्यात्मिक साधन को पाना है जिससे मोक्ष का शाश्वत सुख पाया जा सके। रत्नत्रय (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) रूप

Jain Education International · For Private & Personal Use Only · www.jainelibrary.org

धर्म की साधना से ही मोक्ष-साध्य प्राप्त होता है। चार पुरुषार्थ में 'मोक्ष' पुरुषार्थ ही उपादेय है। ऋषि-मुनियों, तत्त्व-चिन्तकों, विचारकों तथा दार्शनिकों ने एक स्वर से "मोक्ष" तत्त्व को स्वीकार किया है। इसीलिये सभी तत्त्वचिन्तकों एवं ज्ञानियों ने अपनी-अपनी स्वानुभूति के अनुसार भिन्न-भिन्न मोक्ष-हेतुओं का प्रतिपादन किया है।

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक चिन्तनधारा में मुख्य रूप से तीन तत्त्व को प्रधानता दी गई है वैदिक धर्म में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग; बौद्ध धर्म में शील, समाधि, प्रज्ञा और जैनधर्म में सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये मोक्ष के मुख्य हेतु हैं।

द्वादशांगश्रुत रूपी महासागर का सार "ध्यानयोग" है। मोक्ष का साधन ध्यान है, ध्यान सम्यग्ज्ञानादि से गर्भित है। सर्वज्ञकथित तत्त्वों को यथार्थ जानना, उनमें यथार्थ श्रद्धा होना, श्रद्धाशील साधक ही समस्त योगों को (सावद्य क्रिया-पापों को) नाश करने में समर्थ बनता है। जैन धर्म की समस्त साधनाएँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप के अन्तर्गत ही निहित हैं। उनमें अहिंसा आदि अनुष्ठानों का प्रतिपादन मूलगुण और उत्तरगुणों की रक्षार्थ किया गया है। श्रमण और श्रावक की समस्त क्रियाएँ ध्यानयोग से सम्बन्धित हैं। साधना का सार कर्मक्षय है। कर्मक्षय के लिये सभी साधनाओं के मूल में चित्तशुद्धि को प्रधानता दी गई है। मनशुद्धि के बिना साधना हो नहीं सकती। साधना के लिये मनशुद्धि आवश्यक है और मनःशुद्धि ध्यान से प्राप्त होती है।

प्राचीनकाल में "ध्यानयोग" की साधना के लिए श्रमण संस्कृति में तप, संवर, भावना, समता, अप्रमत्त शब्द का प्रयोग होता था। उसके पश्चात् समता, समाधि, ध्यान और योग शब्द का प्रयोग होने लगे। खास तौर से तीनों ही धाराओं में '**योग**' शब्द का प्रयोग होने लगा यानी 'ध्यान' शब्द के स्थान पर 'योग' शब्द प्रयुक्त होने लगा, पर दोनों शब्दों का योग मिलने से '**ध्यानयोग**' बन गया।

ध्यान का सामान्य अर्थ है—सोचना। समझना। ध्यान रखना। किसी बात या कार्य में मन के लीन होने की क्रिया, दशा या भाव। चित्त की ग्रहण या विचार करने की वृत्ति या शक्ति, समझ, बुद्धि, स्मृति, याद, ध्यान आना, विचार पैदा होना। ध्यान छूटना- एकाग्रता नष्ट होना। ध्यान जमना आदि।

ध्यान का विशिष्ट अर्थ—मानसिक प्रत्यक्ष है। बाह्य इन्द्रियों के प्रयोग के बिना केवल मन में लाने की क्रिया या भाव। अन्तःकरण में उपस्थित करने की क्रिया या भाव। केवल ध्यान द्वारा प्राप्तव्य। ध्यान में मग्न। चेतना को वृत्ति चेतस् बोध या ज्ञान कराने वाली वृत्ति या शक्ति। चित्त एकाग्र होना। विचार स्थिर होना। प्रशस्त ध्यान।

ध्यान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ—जिसके द्वारा किसी के स्वरूप का, अन्तर्मुहूर्त स्थिरतापूर्वक एक वस्तु के विषय में चिन्तन, अथवा ध्येय पदार्थ के विषय में अक्षुण्ण रूप से तैलधारा की भांति चित्तवृत्ति के प्रवाह का चिन्तन करना ध्यान कहा जाता है।[1]

योग शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ—"योग" शब्द की व्युत्पत्ति "युज्" धातु से मानी गई है। "युज्" धातु के अनेक अर्थ हैं, उनमें से यहाँ 'जोड़ना' या 'समाधि' मुख्य है।[2] बौद्ध परम्परा में युज् धातु का प्रयोग '**समाधि**' के अर्थ में लिया है तथा वैदिक परम्परा में दोनों ही अर्थ प्रचलित हैं। 'चित्तवृत्ति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरोध', 'समत्व' अथवा 'उदासीन भाव से कर्म करने में कुशलता' या 'जीवात्मा परमात्मा का सुमेल' को योग कहा है।[3] जैन परम्परा में 'योग' शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत है,[4] यथा —

(१) आस्रव (क्रिया, पापजनक क्रिया, व्यापार) (२) जोड़ना और (३) ध्यान।

सरोवर में आने वाले जल-द्वार की तरह पापमार्ग को आस्रव संज्ञा दी जाती है। मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं। इसे आस्रव या क्रिया भी कहते हैं।

कुंदकुंदाचार्य ने आत्मा को तीन विषयों के साथ जोड़ने की प्रेरणा दी है। जैसे,

(१) रागादि के परिहार में आत्मा को लगाना—आत्मा को आत्मा से जोड़कर रागादि भाव का परित्याग करना।

(२) सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों के अभाव में आत्मा को जोड़ना।

(३) विपरीत अभिनिवेश का त्याग करके जैनागमों में कथित तत्त्वों में आत्मा को जोड़ना।

आचार्य हरिभद्र ने मोक्ष से जोड़ने वाले समस्त धर्म व्यापार (धार्मिक क्रिया) को योग कहा है। यहाँ 'स्थान' (आसन), 'ऊर्ण' (उच्चारण), 'अर्थ' 'आलम्बन' और 'निरालम्बन' से सम्बद्ध धर्म व्यापार को योग की संज्ञा दी है। इन पाँच योग को क्रियायोग और ज्ञानयोग में समाविष्ट किया गया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने समस्त धर्म व्यापार से पाँच समिति, तीन गुप्ति अर्थात् अष्ट-प्रवचन माता की प्रवृत्ति को योग कहा है।

योग का तीसरा अर्थ है—ध्यान। राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले और अन्य विषयों में संचार न करने वाले ज्ञान को ध्यान कहा है। 'जोग परिकम्म' में योग के अनेक अर्थ हैं। जिसमें 'सम्बन्ध' भी एक अर्थ है—इसका इसके साथ योग है। 'योगस्थित' में 'योग' का अर्थ ध्यान है। 'झाण समत्थो' में ध्यान शब्द का अर्थ है एक ही विषय में चिन्ता का निरोध करना। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि ध्यान शब्द से प्रशस्त ध्यान ही ग्राह्य है, नरक-तिर्यंचगति में ले जाने वाले अप्रशस्त ध्यान नहीं। ध्यान शब्द के लिए तप, समाधि, धीरोधः, स्वान्त निग्रह, अन्तः संलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, योग, सवीर्यध्यान आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।[5]

ध्यानयोग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

आत्मा का शुद्ध स्वरूप ध्यान के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए ध्यानयोग का यथार्थ अर्थ जानना आवश्यक है। समस्त विकल्पों से रहित आत्मस्वरूप में मन को एकाग्र करना ही उत्तम ध्यान या शुभध्यान है।[6] 'ध्यान' शब्द के साथ 'योग' को जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रशस्त ध्यान का चिन्तन करना ही ध्यानयोग है। मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य में अथवा पर्याय में स्थिर हो जाना ही ध्यान है। वह ध्यान दो प्रकार का है – शुभ (प्रशस्त) और अशुभ (अप्रशस्त)। मन-वचन-काय की विशिष्ट प्रवृत्ति (व्यापार) ही ध्यानयोग है।[7] प्राचीन आगम साहित्य में एवं कुंदकुंदाचार्य के ग्रन्थों में 'समाधि' 'भावना' और 'संवर' इन तीन शब्दों के साथ 'योग' शब्द को जोड़ा गया है।[8] ये तीनों ही शब्द 'ध्यान' के पर्यायवाची हैं। 'समाधियोग', 'भावनायोग' और संवरयोग' का अर्थ है प्रशस्त या शुभ ध्यान। शुभ ध्यान से मन को एकाग्र किया जाता है, शुभ ध्यान आत्मस्वरूप का बोध कराता है। आत्मस्वरूप का ज्ञान होना ही 'संवर' है। संवर की क्रिया प्रारम्भ होने पर ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्रक्रिया शुरू होती है। धर्मध्यान से आत्मध्यान और आत्मध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही श्रेष्ठज्ञान है। इसे ही श्रेष्ठ ध्यान कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका में[9] 'समाधि' शब्द का अर्थ धर्मध्यान किया है। धर्मध्यान का प्रवेश द्वार भावना है। भावना नौका की तरह है। जैसे नौका किनारे पर ले जाती है वैसे भावनायोग से शुद्ध बनी आत्मा 'समाधियोग' (धर्मध्यान) द्वारा मन को एकाग्र करके भवसागर तैर जाती है। इसलिये शुद्ध परमात्मा का ध्यान ही ध्यानयोग है। दूसरे शब्दों में कहें तो ध्यानयोग के बल से काय के समस्त व्यापार के साथ-साथ मन और वचन से परीषह-उपसर्गों को समभाव द्वारा सहन कर मोक्ष-हेतु अनुष्ठान करना या विशिष्ट व्यापार ध्यानयोग है।[10]

ध्यानयोग से शुभध्यान (धर्मध्यान-शुक्लध्यान) को ही प्रधानता दी जाती है। धर्मध्यान की चरम सीमा ही शुक्लध्यान का प्रारम्भ है। अतः इसमें षड् द्रव्य, नौ तत्त्व, छजीवनिकाय, गुण, पर्याय, कर्म-स्वरूप एवं अन्य वीतरागकथित विषयों का चिन्तन किया जाता है। विशेष तौर से अरिहंत और सिद्ध-गुणों के स्वरूप का चिन्तन करना।

ध्यानयोग का फलितार्थ संवर और निर्जरा है तथा संवर निर्जरा का फल मोक्ष है।

संवर का अर्थ है—आत्मा में आने वाले आस्रवद्वार को रोकना। यह दो प्रकार का है[11]—द्रव्य और भाव। नये कर्मों को आते हुए रोकना द्रव्य संवर है और मन, वचन, काय की चेष्टाओं से आत्मा में आने वाले कर्मों को गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट पंच चारित्र सम्पन्न साधक द्वारा कर्मों के क्षय करने पर आत्मा के विशुद्ध परिणाम को भाव संवर कहते हैं। भाव संवर के अनेक नाम हैं। जैसे सम्यक्त्व, देशव्रत, सर्वव्रत, कषायविजेता, मनोविजेता, केवली भगवान, योगनिरोधक।

कर्मों का एकदेश से नष्ट होना निर्जरा है अथवा पूर्व संचित कर्मों को बारह प्रकार के तप से (६ बाह्य और ६ आभ्यन्तर) क्षीण एवं नीरस कर दिया जाता है, उसे निर्जरा कहते हैं।[12] उसके दो भेद हैं[13]—(१) सविपाकनिर्जरा (साधारण निर्जरा, पाकजा निर्जरा, अकाम निर्जरा, स्वकाल-प्राप्त निर्जरा) और (२) अविपाकनिर्जरा (औपक्रमिकीनिर्जरा, अपाकजानिर्जरा, सकामनिर्जरा)। चारों गति के जीव सविपाकनिर्जरा सतत करते रहते हैं। जीव जिन कर्मों को भोगता है उससे कई गुणा अधिक वह नये कर्मों को बांधता है जिससे कर्मों का अन्त होता ही नहीं है। क्योंकि कर्म बन्ध के हेतुओं की प्रबलता रहती है। सामान्यतः सविपाक निर्जरा प्रत्येक जीव के प्रतिसमय होती रहती है, इसीलिए इसे साधारण, अकाम और स्वकालप्राप्त निर्जरा कहते हैं। निर्जरा का दूसरा भेद है अविपाक निर्जरा, जिसे अपाकजानिर्जरा, औपक्रमिकी निर्जरा तथा सकामनिर्जरा भी कहते हैं। यह निर्जरा ही मोक्ष का एकमात्र कारण है। वह बिना भोगे ही कर्मों को समाप्त कर देता है। अविपाक निर्जरा बारह प्रकार के तप से होती है। जैसे-जैसे उपशमभाव और तपाराधना में वृद्धि होती है वैसे-वैसे अविपाक निर्जरा में भी वृद्धि होती है। ज्ञानी पुरुष का तप निर्जरा का कारण है और अज्ञानी का कर्मबन्ध का। इसलिये अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का मुख्य साधन है। ध्यान तप का ग्यारहवां अंग है। मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है।[14]

ध्यानयोग का विशेष स्वरूप (लक्षण)

मनुष्य ही अपने स्वरूप का परिज्ञान कर सकता है। वह अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञाता होता है। स्व-स्वरूप का बोध ध्यान के आलंबन से ही सहज हो सकता है क्योंकि मन अनेक पर्यायों में (पदार्थों में) सतत परिभ्रमण करता रहता है और उसका परिज्ञान आत्मा को होता रहता है, वह ज्ञान जब अग्नि की स्थिर ज्वाला के समान एक ही विषय पर स्थिर होता है तब ध्यान कहलाता है।[15]

www.jainelibrary.org

मन की दो अवस्थाएँ हैं[16]—ध्यान और चित्त। एक ही अध्यवसाय में मन को दीप शिखा की तरह स्थिर करना ध्यान है अथवा स्थिर मन की अवस्था ही ध्यान है और जो चंचल मन है वह चित्त है। मन का स्वभाव चंचल है। चंचल मन और चित्त में सूक्ष्म अन्तर है। मन पौद्गलिक है, जड़ है जबकि चित्त अपौद्गलिक है, चेतन है। मन की सूक्ष्म चिन्तनशील अवस्था ही चित्त है। चंचल चित्त मन है और स्थिर चित्त ध्यान है। चंचल चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—

(१) भावना, (२) अनुप्रेक्षा और (३) चिन्ता।

भावना का अर्थ है—ध्यान के लिए अभ्यास की क्रिया अथवा जिससे मन भावित हो।

अनुप्रेक्षा का भावार्थ—पीछे की ओर दृष्टि करना, जिन प्ररूपित तत्त्वों का पुनः पुनः अध्ययन एवं चिन्तन मनन करना।

चिन्ता का फलितार्थ—मन की अस्थिर अवस्था।

ऐसे ही तीन प्रकार से भिन्न मन की स्थिर अवस्था "ध्यान" है।

किसी वस्तु में उत्तम संहनन वाले को अन्तर्मुहूर्त के लिए चित्तवृत्ति का रोकना अथवा मानस ज्ञान में लीन होना ही ध्यान है। मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य में या पर्याय में स्थिर होना—चिन्ता का निरोध होना ही ध्यान कहलाता है। वह संवर और निर्जरा का कारण है। एकाग्र चिन्ता निरोध को ही ध्यान कहा जाता है। नाना अर्थों—पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती हैं यानी स्थिर नहीं हो सकती है, उसे अन्य समस्त अग्रों-मुखों से हटाकर एकमुखी करने वाले का नाम ही एकाग्र-चिन्ता निरोध है।[17] यही ध्यान है। ज्ञान का उपयोग अन्तर्मुहूर्त काल तक ही एक वस्तु में एकाग्र रह सकता है। इसीलिए ध्यान का कालमान अन्तर्मुहूर्त है।[18]

एकाग्रचिन्ता निरोध का अर्थ

एक+अग्र+चिन्ता+निरोध इन चार शब्दों के संयोग से एकाग्रचिन्ता निरोध शब्द बना है, जिसका अर्थ है[19]—

'एक' का अर्थ—प्रधान, श्रेष्ठ।

'अग्र' का अर्थ—आलंबन, मुख, आत्मा।

'चिन्ता' का अर्थ—स्मृति।

'निरोध' का अर्थ अभाव।

उस चिन्ता का उसी एकाग्र विषय में वर्तन का नाम है ध्यान अर्थात् द्रव्य और पर्याय के मध्य में प्रधानता से जिसे विवक्षित किया जाय उसमें चिन्ता का निरोध ही सर्वज्ञ की दृष्टि से ध्यान है।

यह तो ध्यान का सामान्य लक्षण है। विशेष लक्षण में 'एकाग्र' का जो अर्थ ग्रहण किया गया है वह व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिए है। ज्ञान वस्तुतः व्यग्र होता है, ध्यान नहीं[20]।

यहाँ स्थूल रूप से ज्ञान और ध्यान का अन्तर स्पष्ट किया गया है। ज्ञान व्यग्र इसलिए है कि वह विविध अंगों—मुखों अथवा आलंबनों को लिए है। ध्यान व्यग्र नहीं होने का कारण यही है कि वह एक-मुखी है। यों देखा जाय तो ज्ञान ध्यान से भिन्न नहीं है। वस्तुतः निश्चल अग्निशिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है। फलितार्थ है कि ज्ञान की उस अवस्था विशेष का नाम ही ध्यान है जिसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह व्यग्र न रहकर एकाग्र हो जाता है। 'चिन्ता-एकाग्र-निरोधन' के लिए 'प्रसंस्थान' 'समाधि' और 'ध्यान' संज्ञा दी गई है[21]। जो इष्टफल प्रदाता होता है।

प्रस्तुत वाच्यार्थ में 'निरोध' शब्द का प्रयोग भाव-साधन में न कर कर्म-साधन में किया है। जो रोका जाता है वह निरोध है जिसमें चिन्ता का निरोध किया जाता है (जो चिन्ता का निरोध करता है) वह चिन्तानिरोध है। इसमें जो एकाग्र शब्द आया है वह निर्दोषजनक है। इसमें द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य में संक्रमण का विधान है। ध्यान अनेकमुखी नहीं एकमुखी है और उस मुख में भी संक्रमण होता रहता है। 'अग्र' आत्मा को भी कहते हैं। ध्यान लक्षण में आत्मा को ही प्रधान लक्ष्य माना गया है। ध्यान स्ववृत्ति होता है। बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है। इसलिए ध्यान की व्याख्या में 'एकाग्र चिन्तानिरोध' ही यथार्थ है।[22]

श्रुतज्ञान और नय की दृष्टि से ध्यान का विशेष लक्षण

स्थिर मन का नाम ध्यान और स्थिर तात्त्विक (यथार्थ) श्रुतज्ञान का नाम भी ध्यान ही है। ज्ञान और आत्मा एक ही पर्यायवाची नाम है। जिस समय जो विवक्षित होता है उस नाम का प्रयोग किया जाता है। जब आत्मा नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचय के लिए कहा जाता है कि वह ज्ञानस्वरूप है और जब ज्ञान नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचय के लिए कहा जाता है कि वह आत्मस्वरूप है।[23] इससे स्पष्ट होता है कि आत्मज्ञान और ज्ञान आत्मा ही ध्यान है। रागद्वेषरहित तात्त्विक (निर्मल) श्रुतज्ञान अन्तर्मुहूर्त में स्वर्ग या मोक्षप्रदाता होता है। यह ध्यान छद्मस्थों को होता है। जिनका ध्यान 'योगनिरोध' है। जिस श्रुतज्ञान को ध्यान कहा है उसमें ये तीन विशेषण होते हैं—१ उदासीन, २ यथार्थ और ३ अतिनिश्चल। इन विशेषणों से रहित श्रुतज्ञान ध्यान की कोटि में नहीं आता, क्योंकि वह व्यग्र होता है किन्तु ध्यान व्यग्र नहीं होता। 'अन्तर्मुहूर्त' पद से ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति स्पष्ट की है। यह कालमर्यादा उत्तम संहनन वालों (शरीर की मजबूती) की दृष्टि है, हीन संहननवालों की दृष्टि से नहीं है। एक ही विषय में लगातार ध्यान इतने समय तक भी नहीं रह पाता है। इससे भी कम काल की मर्यादा को लिए हुए होता है। 'अन्तर्मुहूर्त' छद्मस्थ की दृष्टि से है, केवलज्ञानियों की दृष्टि से नहीं। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् चिन्ता दूसरी वस्तु का आलंबन लेकर ध्यानान्तर के रूप में बदल जाती है। बहुत वस्तुओं का संक्रमण होने से ध्यान की संतान चिर काल तक चलती रहती है। यह छद्मस्थ के ध्यान का लक्षण है।[24] यही श्रुतज्ञान स्वर्ग मोक्ष प्रदाता है तथा करण साधन-निरुक्त की दृष्टि से स्थिर मन अथवा स्थिर तात्त्विक श्रुतज्ञान को ध्यान कहा है। यह कथन निश्चयनय की दृष्टि से है।[25]

मुख्यतः नय के दो प्रकार हैं[26]—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा ध्यान के लक्षण में आये हुए शब्दों का अर्थ—"एक" शब्द 'केवल' अथवा 'तथोदित' (शुद्ध) का वाचक है, "चिन्ता" 'अन्तःकरण की वृत्ति' का तथा "रोध" या "निरोध" नियंत्रण का वाचक है। निश्चयनय की दृष्टि से "एक" शब्द का अर्थ "शुद्धात्मा" और उसमें चित्तवृत्ति के नियंत्रण का नाम ध्यान, और "अभाव" का नाम "निरोध" है, वह दूसरी चिन्ता के विनाशरूप एकचिन्तात्मक है—चिन्ता से रहित स्वसंवित्तिरूप है। यहाँ 'चिन्ता' चिन्तनरूप है। "रोध" और "निरोध" एक ही अर्थ का वाचक है। शुद्धात्मा के विषय में स्वसंवेदन ही ध्यान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयनय की दृष्टि से षट्कारक ध्यान का स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं[27] -- ध्याता को ध्यान कहा है। ध्यान ध्याता से अलग नहीं रह सकता और ध्यान, ध्याता एवं ध्येय के साधनों में कोई विकल्प नहीं हो सकता। इन तीनों का एकीकरण ही ध्यान है। ध्येय को ध्याता में ध्याया जाता है इसलिए वह कर्म और अधिकरण दोनों ही रूप में ध्यान ही कहा गया है। निश्चयनय से ये दोनों ध्यान से भिन्न नहीं हैं। अपने इष्ट ध्येय में स्थिर हुई बुद्धि दूसरे ज्ञान का स्पर्श नहीं करती इसलिए "ध्याति" को भी ध्यान कहा है। भाव-साधन की दृष्टि से भी "ध्याति" को ध्यान कहा है क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धात्मा ही ध्यान है। जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है, जो ध्यान करता है वह ध्यान है, जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है और ध्येय वस्तु में परम स्थिर बुद्धि का नाम भी ध्यान ही है। आत्मा अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए अपने हेतु से ध्याता है। इसलिये निश्चय नय की दृष्टि से यह कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूप षट् कारक में परिणत आत्मा ही ध्यान का स्वरूप है। प्रश्न होगा कि कैसे षट् कारक स्वरूप आत्मा ध्यान स्वरूप हो सकती है? उत्तर में आचार्य का कथन है कि जो ध्याता है वह आत्मा (कर्ता), जिसको ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप आत्मा (कर्म), जिसके द्वारा ध्याता है वह ध्यान परिणत आत्मा (करण), जिसके लिए ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप के विकास प्रयोजन रूप आत्मा (सम्प्रदान), जिस हेतु से ध्याता है वह सम्यग्दर्शनादि हेतु आत्मा (अपादान), और जिसमें स्थित होकर अपने अविकसित शुद्ध स्वरूप को ध्याता है वह आधारभूत अन्तरात्मा (अधिकरण) है। इस तरह शुद्धनय की दृष्टि, जिसमें कर्ताकर्मादि षट् कारक से भिन्न नहीं, अपना एक आत्मा ही ध्यान के समय षट्कारकमय परिणत होता है। यही ध्यान का विशिष्ट लक्षण है।

ऐसे सामान्य और विशेष ध्यान का स्वरूप अन्य दर्शनों में और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थों में कम देखने को मिलता है। जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है--

ध्यानयोग का वैदिक स्वरूप

कर्मयोग-भक्तियोग-ज्ञानयोग इन त्रिविध साधना पद्धतियों के अन्तर्गत ही मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि का समावेश किया गया है। इन साधना पद्धतियों में सर्वाधिक प्रिय और प्रचलित प्रणाली योग की मानी जाती है। वैदिक युग के पश्चात् दर्शनयुग में पतंजलि ने क्रमबद्ध योगशास्त्र का विवेचन किया। योग की सभी संकल्पनाएँ उपनिषदों में अनेक रूपों में दिखाई देती है। कालांतर में पातंजल योग के साथ-साथ मन्त्रादि चतुष्क योगों का विवेचन भी उपलब्ध होता है।[28] पातंजल ने 'चित्तवृत्ति निरोध' को ही ध्येय सिद्ध किया है। उन्होंने 'योगशास्त्र' में क्रियायोग और अष्टांग योग का मार्ग स्पष्ट किया है। अष्टांगयोग के बहिरंग और अन्तरंग ऐसे दो भेद किये हैं। अन्तरंग योग में धारणा, ध्यान और समाधि का उल्लेख किया है। योगशास्त्र क्रमिक गति से साधक के विकास मार्ग में सहायक साधन है और ध्यान उसमें एक महत्त्वपूर्ण अंग है। बिना ध्यान के योग साधना की सिद्धि संभव नहीं। इसीलिये मनीषियों ने 'मन्त्रयोग' की साधना पद्धति में ध्यानयोग के लिए मन की एकाग्रता और तल्लीनता को प्राप्त करने के लिए अजपा जप अथवा सोऽहं को स्वीकार किया है। नाम स्मरण की प्रक्रिया से "स्थूलध्यान" और "महाभावसमाधि" का प्रतिपादन किया है। मन्त्रयोग साधना पद्धति में "स्थूलध्यान" की प्रक्रिया ही ध्यानयोग की प्रक्रिया है।[29]

'लययोग' की सभी क्रियायें कुण्डलिनी योग में पायी जाती हैं। इसमें स्थूल और सूक्ष्म क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी उत्थान, षट्चक्रभेदन, आकाश आदि व्योमपंचक तथा प्रकृति के सूक्ष्म रूप का चिन्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"बिन्दुध्यान" और "महालय" अथवा "लयसिद्धियोग समाधि" का दिग्दर्शन है।[31] यही ध्यानयोग की प्रक्रिया है।

'हठयोग' में ८४ आसनों के साथ-साथ प्राणायाम का स्वरूप स्पष्ट करके "महाबोध समाधि" और "ज्योतिध्यान" का दिग्दर्शन कराया है।[31] प्राणायाम के माध्यम से ही ध्यानयोग की प्रक्रिया स्पष्ट की है।

'राजयोग' साधना पद्धति में अष्टांगयोग का सरल सुबोध स्वरूप प्रतिपादन किया है। वह सहज प्रक्रिया है। इनसे मन की एकाग्रता बढ़ती है। इस अवस्था को ही "ब्रह्मध्यान" कहा है।[32]

इन सभी साधनाओं के मूल में मन की एकाग्रता को प्रधानता दी गई है। यही ध्यानयोग का स्वरूप है।

भारतीय इन साधना पद्धतियों को आधुनिक युग में नया रूप अपनी-अपनी स्वानुभूति के अनुसार दे रहे हैं। उनमें से कुछ नमूनों के तौर पर आपके सामने रख रहे हैं, जैसे[33] कि

रामकृष्ण परमहंस—कर्मयोग और भक्तियोग को ही प्रेमयोग के माध्यम से ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि से प्रेम के द्वारा ही मन को एकाग्र किया जा सकता है। यही ध्यानयोग है।

स्वामी विवेकानन्द—ईश्वर दर्शन का परम साधन मानव सेवा है। उनके कथनानुसार कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, वैराग्ययोग अथवा राजयोग का समन्वय ही मानव सेवा है। यही ईश्वर प्राप्ति का अपूर्व साधन है। मानव सेवा ही ध्यानयोग है।

महात्मा गांधी—(१) सत्य, (२) अहिंसा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) इन्द्रियनिग्रह, (५) अस्तेय, (६) अपरिग्रह, (७) स्वदेशी, (८) अभयव्रत, (९) अस्पृश्यता, (१०) देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा और (११) शरीरबल ये ग्यारह सूत्र उनके ध्यानयोग के साधन हैं। उन्होंने 'सत्याग्रह' के माध्यम से आध्यात्मिक साधना का स्तर नई शब्दावली में समझाने का प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि से सत्य की साधना ही ध्यानयोग साधना है। सत्यशील साधक ही "प्रार्थना" के माध्यम से ध्यान की अवस्था में पहुँचता है। मन को एकाग्र करने की यह श्रेष्ठ प्रक्रिया है। यही ध्यानयोग है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर—साधना पद्धति का माध्यम "कविता" और "कला" को माना है। काव्यकला को ही ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताया है। अतः काव्य सौष्ठव से ही ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि वैराग्य मुक्ति का साधन नहीं, किन्तु अनुराग के पाश से ही मुक्ति के आनन्द का अनुभव होता है। 'प्रेम' को भक्तियोग का अंग माना है। भगवान के पास पहुँचने में "अनुराग" ही साधन है। यही ध्यानयोग है।

अरविन्द—आत्मा के साथ एकाकार होने की क्रिया ही योग है। विशेष शब्दावली में कहें तो 'विज्ञान' और 'कला' ही योग है। 'अतिमानस' अवस्था ही ध्यानयोग का स्वरूप है। अतिमानस अवस्था का रहस्य है कि जीवन में दिव्यशक्ति की ज्योति, शक्ति, आनन्द और सक्रिय निश्चलता को प्रज्वलित करना। उन्होंने इसे ही 'अध्यात्मयोग' अथवा 'पूर्णयोग' की संज्ञा दी है। पूर्णरूपेण स्वयं को प्रभु के समक्ष अर्पित करना ही 'पूर्णयोग' है। इसमें अशुभ विचारों को स्थान नहीं होता। सिर्फ शुभ विचारों का चिन्तन होता है। शुभ विचारों का चिन्तन ही ध्यानयोग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार वैदिक धर्म में जो ध्यानयोग का स्वरूप है उसे यहाँ पर स्पष्ट दिया गया है।

बौद्ध परम्परा में ध्यानयोग का स्वरूप

शील, समाधि और प्रज्ञा इन त्रिविध साधना पद्धति में सम्पूर्ण बौद्ध-साधना का दिग्दर्शन है। इनमें 'समाधि' के अन्तर्गत ही ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट किया है। 'ध्यान' शब्द के साथ ही साथ समाधि, विमुक्ति, शमथ, भावना, विशुद्धि, विपश्यना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, प्रधान, निमित्त, आरम्भण, लक्खण आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। यहाँ पर 'ध्यान' समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द है। ध्यान का क्षेत्र विस्तृत है। यदि साधना को ध्यान से अलग कर दे तो ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि ध्यान और साधना का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता।

ध्यान का शाब्दिक अर्थ है—चिन्तन करना। यहाँ 'ध्यान' से तात्पर्य है अकुशल कर्मों का दहन करना। अकुशल कर्मों के दहन के लिए शील, समाधि, प्रज्ञा एवं चार आर्य सत्य (१. दुःख, २. दुःख समुदय, ३. दुःख निरोध और ४. दुःख निरोध गामिनी, चतुर्थ आर्य सत्य के अन्तर्गत अष्टाङ्गिक साधना मार्ग) आदि साधनों का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि अकुशल कर्मों का मूल लोभ और मोह है। इन्हीं का दहन साधना और ध्यान से किया जाता है। किन्तु यहाँ अकुशल कर्मों से पाँच नीवरणों को लिया गया है।[34]

बौद्ध परम्परा में मुख्यतः ध्यान के दो भेद मिलते हैं—(१) आरम्भन उपनिज्झान (आलम्बन पर चिन्तन करने वाला) और (२) लक्खण उपनिज्झान (लक्ष्य पर ध्यान करने वाला)। आरम्भण उपज्झान चार रूपावचर और चार अरूपावचर के रूप में आठ प्रकार का माना जाता है और लक्खण उपज्झान के तीन भेद माने जाते हैं।[35]

चंचल चित्तवृत्ति को नियन्त्रित करने के लिए ध्यान साधना के अनेक रूप प्रतिपादन किये हैं जिसमें 'लोकोत्तर' ध्यान पद्धति चरम सीमा की द्योतक है। साधक रूपावचर और अरूपावचर ध्यान की प्रक्रिया से परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। लोकोत्तर ध्यान में उसका प्रहरण किया जाता है—दस संयोजन का प्रहरण होता है। बीज रूप में रहे हुए सभी संयोजन का लोकोत्तर ध्यान से नाश किया जाता है। तब साधक में क्रमशः निम्न अवस्थाएँ होती हैं—(१) स्रोतापन्न (स्रोतापत्ति), (२) सकुदागामि, (३) अनागामी और (४) अर्हन्। लोकोत्तर भूमि में चिन्ता की आठ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में पाँच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास किया जाता है। लोकोत्तर ध्यान में चित्त के चलीस प्रकार पर चिन्तन किया जाता है। सभी ध्यान प्रक्रियाओं में लोकोत्तर ध्यान प्रक्रिया श्रेष्ठ और परिशुद्ध मानी जाती है।[36] बौद्ध परम्परा में एक 'ध्यान सम्प्रदाय' भी है।

ध्यानयोग का स्वरूप भारतीयेतर धर्मों में

इन भारतीय ध्यान-धाराओं के अतिरिक्त भारतीयेतर धर्मों में भी ध्यान का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि ताओ धर्म, कन्फ्युशियस धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म और सूफी धर्म—इन सभी धर्मों में ध्यानयोग का स्वरूप—विनय, नम्रता, सहिष्णुता, प्रेम, सरलता, इन्द्रिय-निग्रह, संयम, दोष—निंदा—बुराई त्याग, आलस्य—प्रमाद त्याग, दया, दान, न्याय, नीति, अहिंसा, सत्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तेय, ब्रह्मचर्य, करुणा, दीन-दुःखीसेवा, अनाथ, विधवाओं की सेवा, भूमि-सेवा, सदाचार, पवित्रता, मन-वचन-काय की शुद्धि, नैतिकता, प्रामाणिकता, मैत्री भावना, क्षमा को जीवन का अलंकार मानना, आत्मवत् सर्वभूतेषु की मंगल भावना, प्रेम से शत्रु को मित्र बनाना एवं शरीअत, तरीकत, मारिफत, हकीकत और गुरु-कृपा आदि रूपों में स्पष्ट होता है।

ध्यानयोग का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

मानव का विकास भौतिक या शारीरिक क्षेत्र में ही न होकर मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हो रहा है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जिनका मानसिक तनाव अधिक बढ़ जाता है तब उस पर नियन्त्रण करने के लिए ध्यान की प्रक्रिया की जाती है। ध्यान प्रक्रिया में शरीर और मन का अग्रगण्य स्थान होता है। इसीलिये आधुनिक मनोविज्ञान भी शरीर और मन के अनुसंधान में लगा हुआ है। मनोवैज्ञानिक कैरिंगटन का कथन है[37] कि "ध्यान-साधना एक मानसिक साधना है। मानसिक प्रक्रिया के कुछ महत्वपूर्ण रहस्य योगियों को ही ज्ञात हैं जिसे हम अभी तक जान नहीं पाये हैं। पर याद रहे कि मानसिक क्षेत्र का स्वरूप केवल मात्र 'मन' तक ही सीमित नहीं है, अपितु मन से भी अधिक सूक्ष्म 'प्रत्ययों' को बताया है। 'प्रत्ययों' का आविष्कार भारतीय मनोविज्ञान की देन है, जो आधुनिक परामनोविज्ञान का ही एक क्षेत्र है। अरविन्द ने अपनी ध्यान प्रक्रिया में "अतिमानस" की कल्पना की है जो मन की अतिसूक्ष्म स्थिति है अथवा "वह" मानसिक आरोहण का महत्त्वपूर्ण चरण है और मानसिक चेतना विकास क्रम में 'मन' का ही अधिक सहयोग है, जिसके कारण चेतना का ऊर्ध्वारोहण सम्भव है। क्योंकि इन्द्रियाँ सबसे अधिक स्थूल हैं और इनका संयोजन एवं अनुशासन 'मन' के द्वारा ही होता है। अतः इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से प्राण सूक्ष्म है, प्राण से बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धि से 'आत्मा' सूक्ष्म है। आत्मा के निज स्वरूप को जानने के लिए मन को केन्द्रित करना होता है। मन का केन्द्रीकरण इन्द्रियों के संयम से होता है। इसे इन्द्रिय-निग्रह की संज्ञा दी जाती है। इन्द्रियविजेता ही मनोविजेता हो सकता है। अतः मनोविज्ञान की शब्दावली में इन्द्रियनिग्रह को प्रवृत्तियों का उन्नयन या उदात्तीकरण कहते हैं। यह उन्नयन की प्रक्रिया कल्पना, विचार, धारणा, चिन्तन आदि के क्षेत्रों में क्रियाशील होती है। जब 'मन' किसी भी एक "वस्तु" के प्रति केन्द्रित होने की अवस्था में आता है, तब मन का केन्द्रीकरण ही वह आरम्भ बिन्दु है, जहाँ से "ध्यान" के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

मानसिक प्रक्रिया में "ध्यान" की स्थिति तक पहुँचने के लिए तीन मानसिक स्तरों या प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। वे मानसिक स्तर इस प्रकार हैं—

(१) चेतन मन, (२) चेतनोन्मुख मन और (३) अचेतन मन।

इन 'मन' के तीन स्तरों को फ्रायड ने नाट्यशाला के समान बताया है। जैसे नाट्यशाला की रंगभूमि समान 'चेतन मन', नाट्यशाला की सजावट समान 'अचेतन मन' और रंगशाला में प्रवेश करने की भांति 'चेतनोन्मुख मन' है। मन को बर्फ की उपमा दी है।[38]

मनोवैज्ञानिकों ने मन की वृत्ति तीन प्रकार की बताई है, जैसे कि—(१) ज्ञानात्मक, (२) वेदनात्मक और (३) क्रियात्मक। ध्यान मन की क्रियात्मक वृत्ति है एवं वह चेतना की सबसे अधिक व्यापक क्रिया का नाम है। ध्यान मन की वह क्रिया है—जिसका परिणाम ज्ञान है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिए ध्यान की आवश्यकता है। जागृत अवस्था में किसी न किसी वस्तु पर ध्यान किया जाता है। जागृत अवस्था विभिन्न प्रकार के ज्ञान को जन्म देती है। किन्तु सुप्त अवस्था में हम ध्यानविहीन रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोविज्ञान की दृष्टि से जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश सबसे अधिक केन्द्रित होता है, वह ध्यान का विषय है।[39] ध्यान का विषय प्रतिक्षण बदलता रहता है। जब हमारी चेतना एक पदार्थ पर केन्द्रीभूत होती है तब उससे सम्बन्धित दूसरे पदार्थों का भी सामान्य ज्ञान हमें होता रहता है। किन्तु इन पदार्थों का ज्ञान अत्यधिक सामान्य होता है। इसलिये मनोवृत्ति को तीन भागों में विभाजित किया है। ध्यानावस्था में मन की शुभवृत्ति होती है। शुभ वृत्ति की एकाग्रता को ही ध्यान में स्थान है।[40] जैन सिद्धान्तानुसार भी यही मान्यता है, उसने विशेषतः मनोविकारों पर विजय पाने पर अधिक बल दिया है। इन्द्रिय और मन को नाश करने के लिए या दमन करने के लिए नहीं कहा किन्तु सहज रूप से आत्मा के शुभाशुभ भावों को ज्ञाता द्रष्टा बनकर देखने को कहा। क्रियात्मक रूप में ये माध्यम हैं। ध्यान साधना-मार्ग का राजपथ है। ध्यान से विकारों पर विजय प्राप्त की जाती है। विषय-विकार और कषाय पर पूर्णतः विजय प्राप्त करना ही जैनागम के अनुसार ध्यान है। ध्यान प्रक्रिया में मन का अग्रगण्य स्थान है। साधना में मन के सहायक और बाधक रूप में दो कार्य हैं।

मनोविज्ञान ने तीन प्रकार की प्रक्रिया स्वीकार की हैं[41] -

(१) अवधान, (२) संकेन्द्रीकरण (संकेन्द्रण) और (३) ध्यान।

'अवधान' की प्रक्रिया में 'मन' को किसी वस्तु की ओर चेतनोन्मुख किया जाता है। 'अवधान' और 'चेतनोन्मुख' ये दोनों शब्द एकार्थक है। पिट्सबरी और मैकडोनल आदि मनोवैज्ञानिकों ने 'अवधान' को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है, जो मन की ऐन्द्रिय अभिधान प्रक्रिया से सम्बन्धित है। 'अवधान' में 'मन' बाह्य अनुभवों के प्रति अधिक क्रियाशील रहता है और इस प्रक्रिया में मानसिक ऊर्जा 'वस्तु' के प्रति गतिशील रहती है। बाह्य वस्तुओं के प्रति 'मन' की यह गतिशीलता 'मन' का केवल एकमात्र क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त 'मन' का दूसरा भी क्षेत्र है जिसे 'स्वरूप' में केन्द्रित किया जाता है। इस स्थिति में 'प्रज्ञा' का उद्‌गम होता है, जो ऐन्द्रिय जगत से सापेक्ष होते हुए भी निरपेक्ष प्रतीत होता है। यह मानसिक प्रक्रिया एकात्मक अवस्था का प्रथम चरण है। इस अवस्था में ही ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ आन्तरिक रूप से 'एकता' की दशा तक पहुँचाती हैं। इसलिये ज्ञान प्रक्रिया के अन्तर्गत फ्रायड ने मन को तीन भागों में बाँटा है - (१) ईड, (२) ईगो और (३) सुपरईगो। भारतीय विचारधारा में ये ही मनस्, अहंकार और बुद्धि के रूप में मिलते हैं। मन से बुद्धि तक का विस्तार ही मानसिक क्रिया का विकासशील स्वरूप है। मन के सूक्ष्म स्तर को सुपरईगो द्वारा ग्रहण किया जाता है। जब मन 'अवधान' से आगे बढ़कर 'संकेन्द्रीकरण' की ओर अग्रसर होता है तब वह (मन) 'वस्तु' के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करता है। इस अवस्था में मन अधिक गहराई में जाकर 'तल्लीनता' का अनुभव करता है। किसी पदार्थ या वस्तु में एकाग्रता आना ही 'संकेन्द्रीकरण-संकेन्द्रण' अवस्था है। इस प्रक्रिया में मन की एकाग्रता बढ़ जाती है। तब तीसरी 'ध्यान' की प्रक्रिया में प्रवेश होता है। "ध्यान" की अवस्था तक आते-जाते विचारों का समूह सीमित हो जाता है। इसीलिये विचार प्रक्रिया में विचारों का क्रम ज्ञानेन्द्रिय-क्रिया के साथ चलता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि ध्यान एक मानसिक प्रक्रिया का विशिष्ट कृत और केन्द्रित रूप है।[42] ध्यान चित्तशुद्धि का एक मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक रूप है।

चित्तशुद्धि के लिए मनोविज्ञान में विविध प्रणालियों (विधियों) का प्रयोग किया गया है। जैसे[43]—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) अन्तर्दर्शन, (२) निरीक्षण, (३) प्रयोग, (४) तुलना और (५) मनोविश्लेषण। इसे आज कल की भाषा में 'चित्त-विश्लेषण' की विधि कहते हैं। इन विधियों के अतिरिक्त अन्य भी प्रणालियाँ मिलती हैं[44]—

(१) विश्लेषण प्रणाली, (२) विकलनात्मक प्रणाली, (३) उदात्तीकरण और (४) निर्देशनात्मक प्रणाली।

इस प्रकार मनोविज्ञान में ध्यान का स्वरूप चित्तशुद्धि को माना है। जिसमें चित्त में स्थित वासना, कामना, संशय, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, क्षोभ, उद्विग्नता, अशांति आदि विकारों को नाश किया जाता है। अतः आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान का स्वरूप यह है कि मन की असीम शक्ति को ध्यान द्वारा विकसित किया जाय।

भारतीय ध्यान की विचारधाराओं में 'मन' को प्रधानता दी गई है।

जैन दृष्टि से ध्यान में मन की प्रधानता

मन का स्वभाव चंचल है। वह विविध प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं के स्कन्धों का अनुभव करके राग-द्वेष-मोहादि भावों में सतत रमण करता रहता है। वह दो कार्यों में सतत क्रियाशील रहता है—शुभाशुभ कर्मानुभूति। मन शुद्ध साधन द्वारा संसार घटाता है और अशुद्ध साधन द्वारा संसार बढ़ाता है। अतः मन की क्रिया द्वारा भव बढ़ाना और घटाना ध्यानयोगी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के उदाहरण द्वारा स्पष्ट होता है। मन दो प्रकार का है—(१) सविकल्प मन और (२) निर्विकल्प मन। वस्तुतः निर्विकल्प मन ही 'आत्म तत्त्व' है और सविकल्प मन 'आत्म भ्रान्ति' है। मन की अस्थिरता ही रागादि परिणति का कारण है। मन की क्रिया कर्मबन्ध और मुक्ति का कारण है। मन की स्थिरता ही ध्यान की अवस्था है। आत्मस्वरूप का भान स्थिर मन द्वारा ही हो सकता है। स्थिर मन ही 'आत्म तत्त्व' है और अस्थिर मन 'आत्म भ्रान्ति' है। आत्म भ्रान्ति के कारण मनोनिग्रह के अभाव से तन्दुलमत्स्य की भांति भव बढ़ा देता है। इसलिये ज्ञानियों का कथन है कि वचन और काय की अपेक्षा मन द्वारा ही कर्मबन्ध अधिक होता है। आगम में मन को घोड़े की उपमा दी है। आगमेतर ग्रन्थों में इसे कपिलादि उपमा से वर्णित किया है। इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक के लिए मन 'बन्दर' को वश करना ही होगा। क्योंकि आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। उसके एक-एक प्रदेश पर अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्रादिगुण विद्यमान हैं। उन गुणों को विकसित करने के लिए मन की स्थिरता आवश्यक है।[45]

मनोनिग्रह के उपाय

आत्म-स्वरूप में रमण करने के लिए मन को वश में करना होगा। उसे वश में करने के लिये ज्ञानियों ने कुछ उपाय बताये हैं—

(१) इन्द्रियविजय के लिये २३ विषय और २४० विचारों पर प्राप्त करना।
(२) कषाय-शमन।
(३) शुभ भावना का सतत चिन्तन।
(४) समता एवं वैराग्य भाव में सतत लीन रहना।
(५) स्वाध्याय और आत्मज्ञान में लीन।
(६) योगाष्टांग और आठ दृष्टियों का सदैव चिन्तन-मनन करना

www.jainelibrary.org

ध्यानयोग के विशेष निर्देशन सूत्र (उपाय)—(ध्यानयोग को जानने के उपाय)

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और रामसेनाचार्य ने आगम का सिंहावलोकन करके ध्यानयोग का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए कुछ द्वार (अंग) प्रतिपादन किये हैं[46]—

(१) ध्यान की भावना (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वैराग्य एवं मैत्र्यादि)।
(२) ध्यान के लिए उचित देश या स्थान।
(३) ध्यान के लिए उचित काल।
(४) ध्यान के लिए उचित आसन।
(५) ध्यान के लिए आलंबन।
(६) ध्यान का क्रम (मनोनिरोध या योगनिरोध)।
(७) ध्यान का विषय (ध्येय)
(८) ध्याता कौन ?
(९) अनुप्रेक्षा।
(१०) शुद्धलेश्या।
(११) लिंग (लक्षण)।
(१२) ध्यान का फल (संवर, निर्जरा)।

आगम कथित चारों ध्यानों का फल क्रमशः तिर्यंचगति, नरकगति, स्वर्ग या मोक्ष है जो संवर और निर्जरा का फल है। वैसे ही (१) ध्याता, (२) ध्येय, (३) ध्यान, (४) ध्यान फल, (५) ध्यान स्वामी, (६) ध्यान क्षेत्र, (७) ध्यान काल और (८) ध्यानावस्था।

ध्यानयोग के स्वरूप को विशेष रूप से जानने के लिये उपरोक्त अंगों को बताया है। उनमें 'भावना' और 'अनुप्रेक्षा' ऐसे एकार्थी दो शब्द आये हैं। ऐसे देखा जाय तो इन दोनों शब्दों में खास कोई अन्तर नहीं है किन्तु अभ्यास की भिन्नता जरूर है। ज्ञानदर्शनादि 'भावना' ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए हैं और अनित्यादि अनुप्रेक्षा वीतराग भाव की पुष्टि के लिए है। यह ध्यान के मध्यवर्ती काल में की जाती है। एक विषय पर मन सदा स्थिर नहीं रह सकता। मन का स्वभाव चंचल है। जिसके कारण ध्यानावस्था में बीच-बीच में ध्यानान्तर हो जाता है। उस समय अनित्यादि अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जाता है। यह कालीन भावना है और ज्ञानदर्शनादि प्रारम्भिक। आगम में भावना को अनुप्रेक्षा भी कहा है वैसे अन्य ग्रन्थों में भी।[47]

ध्यान का अधिकारी कौन ?

प्रश्न है कि ध्यान का अधिकारी कौन हो सकता है ?

ज्ञानियों का कथन है कि लोक को तीन भागों में विभाजित किया गया है। जैसे अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इसे शास्त्रीय भाषा में लोकाकाश कहते हैं। जहाँ षट् द्रव्यों का अस्तित्व होता है वह लोक है। दो भागों में लोक विभाजित किया गया है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश की अपेक्षा अलोकाकाश अनन्त गुणा बड़ा है किन्तु उसमें चेतन और अचेतन का अस्तित्व नहीं है। लोकाकाश में षट् द्रव्य हैं, जड़ चेतन का अस्तित्व है। जन्म-मरण का चक्र है। लोकाकाश में सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर जीवों का अस्तित्व है। जीवों का प्रथम निवास स्थान निगोद है। जहाँ जीव का अनन्त काल व्यतीत हो जाता है। पुण्यवानी की प्रबलता बढ़ने पर जीव का विकास होने लगता है तब वह क्रमशः निगोद (सूक्ष्म निगोद) से निकलकर बादर (पृथ्वी—अप—तेज—वायु—वनस्पति काय) ३ विकले-

www.jainelibrary.org

न्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चउरिन्द्रिय) और पंचेन्द्रिय (नारक, तिर्यंच, देव और मनुष्य) में प्रवेश करता है। इनमें असंख्यात और अनन्तानन्त काल व्यतीत करता है। किन्तु इन सबमें मनुष्य भव दुर्लभ माना जाता है। जीव की दो अवस्था हैं—भव्य और अभव्य। अभव्य में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता नहीं है, और भव्य में है। जीव दो पर्यायों में सतत भ्रमण करता रहता है—स्वभाव-पर्याय और विभाव-पर्याय। चारों गति में मिथ्यात्वादि के कारण परिभ्रमण करना विभाव पर्याय है और कर्मोपाधि रहित स्व-स्वरूप में रमण करना स्वभावपर्याय है। विभावपर्याय के कारण ही जीव अनादिकाल से अचरमावर्तकाल में अनन्तानन्त भव व्यतीत करता है। इस स्थिति में स्थित जीव के मैत्र्यादिगुण एवं मोक्ष-जिज्ञासा नहीं होती। अचरमावर्तकाल को आगम भाषा में "कृष्णपाक्षिक" काल कहते हैं।[48] इस अवस्था में जीव मोक्ष नहीं पा सकता। मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता तो भव्य में ही हो सकती है। भव्य में भी कुछ ऐसे अभवी के भाई बैठे हैं जिन्हें जाति भवी कहते हैं। ये मोक्ष को नहीं पा सकते।

जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'अचरमावर्त' और 'चरमावर्त' ऐसे दो शब्द आते हैं। जब तक आत्मा (जीव) अन्तिम पुद्गल-परावर्तकाल को प्राप्त नहीं होता तब तक धर्मबोध प्राप्त नहीं कर सकता। गाढ़ कर्मावरण के कारण जीव अचरमावर्तकाल (कृष्णपाक्षिक) में घूमता ही रहता है। चारों गति में परिभ्रमण करता रहता है। मनुष्य भव भी प्राप्त कर लेता है, गुरुवन्दन, दानादि क्रिया, भक्ति भाव सब कुछ करता है परन्तु रत्नत्रय (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) के अभाव में ये सारी क्रियायें करने पर भी फलदायक नहीं बनती हैं। भवनाशक नहीं होतीं परन्तु भववर्धक होती हैं। अतः अचरमावर्तकाल भववर्धक होता है।[49]

दूसरा शब्द है 'चरमावर्त'। यह दो शब्दों के संयोग से बना है—चरम+आवर्त। 'चरम' का अर्थ है अन्तिम और 'आवर्त' का अर्थ है घुमाव। कर्म आठ हैं। उनमें मोहनीय कर्म की प्रधानता है। इसको ७० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम स्थिति है, शेष में कुछ की ३३ कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, कुछ की ३० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम और कुछ की २० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम। इन सबमें मोहनीय कर्म की ही स्थिति बड़ी है। 'चरमावर्त' काल में मोहनीय के ७० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का घुमाव अन्तिम हो तभी जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। चरमावर्तकाल में भी प्रत्येक जीव अनन्तानन्त पुद्गलपरावर्तकाल प्रसार करता है। जब जीव में परिणाम विशुद्धि के कारण ऐसे भाव निर्माण होते हैं कि जिससे वह 'तथाभव्यत्व' की संज्ञा को प्राप्त करता है। इसी अवस्था में धर्म-सन्मुख होने की योग्यता जीव में आती है और यही 'शुक्लपाक्षिक' अवस्था कहलाती है।[50] इसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'अपुनर्बन्धक' कहते हैं। इसलिये ज्ञानियों ने ध्यान के अधिकारी निम्नलिखित बतलाये हैं[51]—

(१) अपुनर्बंधक, (२) सम्यग्दृष्टि और (३) चारित्र आत्मा। इसमें देशविरत और सर्वविरत दोनों प्रकार के साधक होते हैं। ये चारों प्रकार के ध्यानाधिकारी शुक्लपाक्षिक (चरमावर्तकाल) अवस्था में ही विद्यमान रहते हैं।

ध्यान के सोपान—आगम एवं ग्रन्थों के कथनानुसार ध्यान के दो सोपान माने गये हैं[52]—(१) छद्मस्थ का ध्यान और (२) जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जिन का ध्यान काया की स्थिरता है। इसे ही 'योग निरोध' कहते हैं। मन की स्थिरता चौथे गुणस्थान से विकासपथगामी बनती है और क्रमशः आगे-आगे बढ़ते-बढ़ते आठवें गुणस्थान में विशेष प्रगति करती है। यह गुणस्थान ध्यान साधक आत्मा के लिए विशिष्ट ध्यान साधना में आरोहण कराने

www.jainelibrary.org

वाला होता है। इसे आगम भाषा में 'उपशम श्रेणि' और 'क्षपक श्रेणि' कहते हैं।[53] उपशम श्रेणि में जीव दर्शनत्रिक (मिथ्यात्वमोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय) और अनन्तानुबंधि चतुष्क (क्रोध—मान—माया—लोभ) इन सात का उपशम (शान्त) करता है और क्षपक श्रेणि में इन्हीं सात प्रकृतियों का क्षय करता है। उपशम श्रेणि वाला ग्यारहवें गुणस्थान में क्षीणमोहनीय कर्म के संज्वलन लोभ का उदय होने से गिर जाता है। यह गुणस्थान पतित गुणस्थान कहलाता है। जीव पुनः विकास को पाकर कार्य सिद्ध कर लेता है। क्षपक श्रेणि वाला बारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र एवं केवलज्ञान को पाकर शुक्लध्यान की साधना से समस्त कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

ध्यान के भेद-प्रभेद

ध्यान का यथार्थ स्वरूप जानना हो तो उसके भेद-प्रभेद को जानना अत्यावश्यक है। आगम कथनानुसार विचारधारा अनेक प्रकार की हैं क्योंकि आत्मा (जीव) का स्वभाव परिणमनशील है। शुभाशुभ असंख्य विचारधाराओं को समझना कठिन होने से ज्ञानियों ने उन्हें चार भागों में विभाजित किया है। उन्हें ध्यान की संज्ञा दी गई है।

आगम में मुख्यतः ध्यान के चार भेद हैं :—

(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान,

(३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

इन चार ध्यानों के क्रमशः ८+८+१६+१६ भेद हैं। कुल ४८ भेद हैं।

आर्त्तध्यान के भेद एवं लक्षण

आगमकथित आर्त्तध्यान के चार[55] भेद :—

(१) **अमनोज्ञ-वियोगचिन्ता**—अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श तथा उनके साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना अमनोज्ञ वियोगचिन्ता आर्त्तध्यान है। अमनोज्ञ वस्तुएँ अनेक हैं, जैसे कि अग्नि, जल, धतूरा, अफीम आदि का विष, जलचर स्थलचर वनचर क्रूर प्राणी सिंह, बाघादि, सर्प, बिच्छू, खटमल, जूँ आदि, गिरिकन्दरावासी प्राणी, तीर, भाला, बर्छी, तलवार आदि शस्त्र, शत्रु, वैरी राजा, दुष्ट राजा, दुर्जन, मद्य-मांसादि-भोगी, मंत्र-तंत्र-यंत्र-मारण-मूठ-उच्चाटन आदि का प्रयोग, चोर डाकू आदि का मिलन, भूत, प्रेत, व्यंतरदेवों का उपद्रव—इस तरह अनेक प्रकार की अमनोज्ञ वस्तुएँ एवं व्यक्तियों के देखने-सुनने मात्र से मन ही मन क्लेश होना ही आर्त्तध्यान का प्रथम भेद है।

(२) **मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता**—पाँचों इन्द्रियों के विभिन्न मनोज्ञ विषयों का एवं माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पत्नी, भाई, बहन, मित्र, स्वजन, परिजन, चक्रवर्ती—बलदेव—वासुदेव—मांडलिक राजा आदि पद से विभूषित, सामान्य वैभव, राज वैभव, भोग भूमि के अखण्ड सुख प्राप्त हों, मनुष्य सम्बन्धी भोग प्राप्त हों, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रमंत्री, राज्यपाल, मुख्य सेनापति आदि पदवियों से भूषित, विविध प्रकार की शय्या, विविध प्रकार के वाहन, विविध प्रकार के सुगंधित पदार्थ, विविध प्रकार के रत्न और सुवर्ण जड़ित आभूषण, नाना प्रकार के वस्त्र, धन-धान्यादि की विपुलता, ऋद्धि सिद्धि की प्राप्ति—इन सबके मिलने पर वियोग

For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न होने का अध्यवसाय (विचार) करना तथा भविष्य में भी इनका वियोग न हो ऐसा निरन्तर सोचना 'मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता' नामक द्वितीय आर्त्तध्यान है।

(३) **आतंक (रोग) वियोगचिन्ता**—वात, पित्त और कफ के प्रकोप से शरीर में उत्पन्न होने वाले महा भयंकर सोलह रोगों (कण्ठमाला, कोढ़, राजयक्ष्मा–क्षय, अपस्मर-मूर्च्छा, मृगी, नेत्र-रोग, शरीर की जड़ता, लूला, लंगड़ा, कुब्ज, कुबड़ा, उदर रोग—जलोदरादि, मूक, सोजन शोथ, भस्मक रोग, कंपन, पीठ का झुकना, श्लीपद (पैर का कठन होना), मधुमेह-प्रमेह) में से किसी भी रोग का उदय होने पर मन व्याकुल हो जाता है। व्याकुलता को दूर करने के लिए सतत चिन्तित रहना 'आतंक-वियोगचिन्ता' नामक तीसरा आर्त्तध्यान है। मनुष्य के शरीर में ३॥ करोड़ रोम माने जाते हैं। उनमें से प्रत्येक रोम पर पौने दो रोग माने जाते हैं। जब तक सातावेदनीय का उदय रहता है तब तक रोगों की अनुभूति नहीं होती। जैसे ही असातावेदनीय कर्म का उदय होता है कि शरीर में स्थित रोग का विपाक होता है।

(४) **भोगेच्छा अथवा निदान**—पाँचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियाँ कामी (कान-आँख) हैं जबकि शेष तीन इन्द्रियाँ (रसन, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं। इन पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं - शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। इन इन्द्रियों के द्वारा काम-भोगों को भोगने की इच्छा करना ही 'भोगेच्छा' नामक चौथा आर्त्तध्यान है। इसका दूसरा भी नाम है, जिसे 'निदान' कहते हैं। जप-तप के फलस्वरूप में देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की ऋद्धि सिद्धि मांगना एवं इन्द्र, विद्याधर, आधिपत्य, धरणेन्द्र के भोग, स्वर्ग सम्पदा, संसार वैभव, देवांगना का सुख विलास, मान, सम्मान, सत्कार, कीर्ति, कामना तथा दूसरे के विनाश की भावना करना, कुल विनाश की इच्छा करना ये सब 'निदान' आर्त्तध्यान में आता है।

आर्त्तध्यान के लक्षण

आगम कथित आर्त्तध्यान के चार लक्षण[56] निम्नलिखित हैं :—

(१) **कंदणया** - ऊँचे स्वर से रोना, चिल्लाना, रुदन करना, आक्रन्दन करना।

(२) **सोयणया**—शोक –चिन्तामग्न होना, खिन्न होना, उदास होकर बैठना, पागलवत् कार्य करना, दीनता भाव से आँख में आँसू लाना।

(३) **तिप्पणया**—वस्तुविशेष का चिन्तन करके जोर-जोर से रोना, वाणी द्वारा रोष प्रकट करना, क्रोध करना, अनर्थकारी शब्दोच्चारण करना, क्लेश या दयाजनक शब्द बोलना, व्यर्थ की बातें बनाना आदि।

(४) **परिदेवणया**—माता, पिता, स्वजन, पुत्र, मित्र, स्नेही की मृत्यु होने पर अधिक विलाप करना, हाथ पैर पछाड़ना, हृदय पर प्रहार करना, बालों को उखाड़ना, अंगों को पछाड़ना, महान् अनर्थकारी शब्दोच्चारण करना आदि।

इन लक्षणों के अतिरिक्त आगमेतर ग्रन्थों में आर्त्तध्यान के और भी लक्षण मिलते हैं। जैसे बात बात में शंका करना, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेशजन्य प्रवृत्ति, ईर्ष्यावृत्ति, चित्तभ्रम, भ्रांति, विषय सेवन उत्कंठा, कायरता, खेद, वस्तु में मूर्च्छाभाव, निन्दकवृत्ति, शिथिलता, जड़ता, लोकैषणा, धनैषणा, भोगैषणा आदि।

ये आर्त्तध्यान के आठ भेद हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रौद्र ध्यान के भेद एवं लक्षण

रौद्रध्यान के भेद—आगम कथित रौद्रध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं[67] —

(१) **हिंसानुबंधि**—द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा का चिन्तन करना। वर्तमान काल में भी हिंसा के विविध प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं वे सब हिंसानुबंधि रौद्रध्यान ही हैं। इसे आगमेतर ग्रन्थों में 'हिंसानन्दि' या 'हिंसानन्द' कहते हैं।

(२) **मृषानुबंधि**—झूठ बोलना आदि इसके अनेक प्रकार हैं। इसे आगमेतर ग्रन्थों में 'मृषानंद' या 'मृषानन्दि' अथवा 'अनृतानुबन्धी' कहते हैं।

(३) **स्तेयानुबंधि**—चोरी करना, डाका डालना, चोरी की वस्तु आदि लेना स्तेयानुबंधि रौद्रध्यान है। इसे 'चौर्यानन्द' या 'चौर्यानन्दि' भी कहते हैं।

(४) **संरक्षणानुबन्धी**—वस्तु, पदार्थ, आभूषण आदि का संरक्षण करने की तीव्र भावना रखना या चिन्तन करना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। इसे 'संरक्षणानन्द' अथवा 'विषयानन्दि' या 'विषय-संरक्षणानुबन्धी' भी कहते हैं।

रौद्रध्यान के लक्षण—आगम कथित रौद्रध्यान के ४ लक्षण इस प्रकार हैं[68]—

(१) **ओसन्नदोष**—हिंसादि चार भेदों में से किसी भी एक भेद द्वारा सतत प्रवृत्ति करना, विभिन्न साधनों द्वारा पृथ्व्यादि के छेदन-भेदन क्रियाओं में सतत क्रियाशील रहना, हिंसकप्रवृत्ति अधिक करना, त्रस-स्थावरादि जीवों की हिंसा के लिए विविध उपाय करना, पांचों इन्द्रियों के पोषण के लिए सतत प्रयत्नशील रहना ये सब स्वयं करना या करवाना 'ओसन्न दोष' नामक रौद्रध्यान का प्रथम लक्षण है।

(२) **बहुलदोष**—उपरोक्त सभी प्रकार की हिंसादि प्रवृत्ति में तृप्ति न होने से 'बहुल दोष' लगता है।

(३) **अज्ञान दोष**—इसमें मूढ़ता और अज्ञानता की वृद्धि होती है। सत् शास्त्र श्रवण, सत्संगति में अप्रीति निर्माण होना एवं अरुचि जागना, हिंसक प्रवृत्ति में रुचि होना, देव-गुरु-धर्म के यथार्थ स्वरूप का बोध न होना, इन्द्रिय पोषण तथा कषाय सेवन में ही धर्म मानना—ये सब अज्ञान दोष हैं।

(४) **आमरणान्त दोष**—मृत्यु पर्यन्त क्रूर हिंसक कार्यों में एवं अठारह प्रकार के पापस्थानक में संलग्न रहना 'आमरणान्त दोष' है।

आगमेतर ग्रन्थों में रौद्रध्यान के बाह्य और आभ्यन्तर लक्षण बताये हैं—

बाह्य लक्षण—हिंसादि उपकरणों का संग्रह करना, क्रूर जीवों पर अनुग्रह करना, दुष्ट जीवों को प्रोत्साहन देना, निर्दयादिक भाव, व्यवहार की क्रूरता, मन-वचन-काययोग की अशुभ प्रवृत्ति, निष्ठुरता, ठगाई, ईर्ष्यावृत्ति, माया प्रवृत्ति, क्रोध के कारण आँखों से अंगार बरसना, भृकुटियों का टेढ़ा होना, भीषण रूप बनाना आदि।

आभ्यन्तर लक्षण—मन-वचन-काय से दूसरे का बुरा सोचना, दूसरे की बढ़ती एवं प्रगति को देख दिल में जलना, दुःखी को देख प्रसन्न होना, गुणीजनों से ईर्ष्या करना, इहलोक-परलोक के भय से दूर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहना, पश्चात्ताप रहित प्रवृत्ति होना, पापकार्य में खुश रहना, धर्म-विमुख होना, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म में श्रद्धा बढ़ाना आदि।

इस प्रकार रौद्रध्यान के ८ प्रकार हैं।

धर्मध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा

आगम कथित धर्मध्यान चार प्रकार का है[59]—

(१) **आज्ञाविचय धर्मध्यान**—(यह) आज्ञा + विचय इन दो शब्दों के संयोग से बना है। 'आज्ञा' शब्द से 'आगम' 'सिद्धान्त' और 'जिनवचन' को लिया जाता है। ये तीनों ही शब्द एकार्थवाची हैं। 'विचय' शब्द का भाव 'विचार' विवेक' और 'विचारणा' है। अतः सर्वज्ञप्रणीत आगम पर श्रद्धा रखना। उसमें कथित प्रमाण, नय, निक्षेप, नौ तत्त्व, षट् द्रव्य, सात भंग, छजीवनिकाय आदि सबका सतत चिन्तन करना और भी अन्य सर्वज्ञग्राह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका नय, प्रमाण, निक्षेप, अनेकान्त, स्याद्वाद दृष्टि से चिन्तन करना धर्मध्यान का प्रथम 'आज्ञाविचय' धर्मध्यान है।

(२) **अपायविचय धर्मध्यान**— रागादि क्रिया, कषायादिभाव, मिथ्यात्वादि हेतु आस्रव के पाँच कार्य, ४ प्रकार की विकथा, ३ प्रकार का गौरव (ऐश्वर्य, सुख, रस-साता), ३ शल्य (माया शल्य, मिथ्या-दर्शनशल्य, निदानशल्य) २२ परीषह (क्षुधा-तृषा, शीत-ऊष्ण, दंश-मशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल (पसीना), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन) इन सभी अपायों का उपाय सोचना विचारणा ही 'अपायविचय' धर्मध्यान है।

(३) **विपाकविचय धर्मध्यान**—बँधे जाने वाले कर्मों को चार भागों में विभाजित किया जाता है, जैसे, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनके विपाकोदय का चिन्तन करना 'विपाकविचय धर्मध्यान' है। 'विपाक' से रसोदय लिया जाता है। कर्मप्रकृति में विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को अथवा फल देने के अभिमुख होने को 'विपाक' कहते हैं। विपाक दो प्रकार का है—हेतुविपाक और रसविपाक। पुद्गलादिरूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक फलानुभव होता है वह प्रकृति हेतुविपाकी कहलाती है तथा रस के आश्रय—रस की मुख्यता से निर्दिश्य-मान विपाक जिस प्रकृति का होता है वह प्रकृति रसविपाकी कहलाती है। दोनों प्रकार के विपाक के ४–४ भेद हैं—

हेतुविपाकी के चार भेद हैं—पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी।

रसविपाकी के चार भेद हैं—एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिःस्थानक और चतुःस्थानक।

जीवों के एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यपाप कर्म के फल का, शुभाशुभ कर्मों के रस का, उदय, उदीरणा, संक्रमण, बन्ध और मोक्ष का विचार करते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से कर्मफल का चिन्तन करना (विचार करना) एवं प्रकृति, स्थिति, रस (अनुभाग) और प्रदेशा-नुसार शुभाशुभ कर्मों के विपाक (उदय-फल) का चिन्तवन करना 'वियाकविचय धर्मध्यान' है।

(४) **संस्थानविचय धर्मध्यान**—'संस्थान' का अर्थ 'संस्थिति', 'अवस्थिति', 'पदार्थों का स्वरूप' है। 'विचय' का अर्थ—चिन्तन अथवा अभ्यास है। इसमें लोक का स्वरूप, आकार, भेद, षट् द्रव्य – उनका

Jain Education International www.jainelibrary.org

स्वरूप, लक्षण, भेद, आधार, स्वभाव, प्रमाण, द्वीप, समुद्र, नदियाँ आदि लोक में स्थित सभी पदार्थों का, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यादि पर्यायों का चिन्तन किया जाता है। इसे संस्थान विचय धर्मध्यान कहते हैं।

धर्मध्यान के चार लक्षण

(१) **आज्ञा-रुचि**—प्रवचन में श्रद्धा होना।

(२) **निसर्ग-रुचि**—स्वाभाविक (सहज) क्षयोपशम से तत्त्व (सत्य) में श्रद्धा होना।

(३) **सूत्र-रुचि**—सूत्र-पठन के द्वारा श्रद्धा होना अथवा जिनोक्त द्रव्यादि पदार्थों को जानने की की रुचि जागना।

(४) **अवगाढ़-रुचि**—विस्तार से सत्य की उपलब्धि होना।

और भी लक्षण मिलते हैं—देव-गुरु-धर्म की स्तुति करना, गुणीजनों के गुणों का कथन करना, विनय, नम्रता, सहिष्णुता आदि गुणों से शोभित एवं दानादि भावना में तीव्रता जागना आदि।

धर्मध्यान के चार आलंबन[61]

(१) **वाचना**—गणधर कथित सूत्रों को पढ़ाना।

(२) **पृच्छना**—(प्रतिप्रच्छना)—शंकानिवारण के लिए गुरु के समीप जाकर विनय से प्रश्न पूछना।

(३) **परिवर्तना** (परियट्टना)—पठित सूत्रों का (सूत्रार्थ) पुनरावर्तन करना।

(४) **अनुप्रेक्षा** (धर्मकथा)—अर्थ का पुनः पुनः चिन्तन करना।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा

ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक होती है, और अहंकार तथा ममकार का नाश भी आवश्यक होता है। इस स्थिति को पाने के लिए ही चार अनुप्रेक्षाओं का निर्देश किया गया है। ये अनुप्रेक्षाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **एकत्व-अनुप्रेक्षा**—अकेलेपन का चिन्तन करना। जिससे अहं का नाश होगा।

(२) **अनित्य-अनुप्रेक्षा**—पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना। इस भावना के सतत चिन्तन से ममत्व का नाश हो जाता है।

(३) **अशरण-अनुप्रेक्षा**—अशरण दशा का चिन्तन करना। संसार में जो वस्तु अनित्य, क्षणिक और नाशवान् हैं वे सभी अशरण-रूप हैं। जन्म, जरा और मरण, आधि-व्याधि-उपाधि से पीड़ित जीवों का संसार में कोई शरण नहीं है। शरण रूप यदि कोई है तो एक मात्र जिनेन्द्र का वचन ही।

(४) **संसार-अनुप्रेक्षा**—चतुर्गति में परिभ्रमण कराने वाले जन्म-मरण रूप चक्र को संसार कहते हैं। जीव इस संसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच संसार चक्र में मिथ्यात्वादि के तीव्रोदय से दुःखित होकर भ्रमण करता है। अतः संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

जो धर्म से युक्त होता है, उसे धर्म्य कहा जाता है।[63] धर्म का एक अर्थ है आत्मा की निर्मल परिणति—मोह और क्षोभरहित परिणाम।[64] धर्म का दूसरा अर्थ है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्चारित्र।[65] धर्म का तीसरा अर्थ है—वस्तु का स्वभाव।[66] इन अथवा इन जैसे अन्य अर्थों में प्रयुक्त धर्म को ध्येय बनाने वाला ध्यान धर्मध्यान कहलाता है।

ध्येय अनन्त हो सकते हैं। द्रव्य और उनके पर्याय अनन्त हैं। जितने द्रव्य और पर्याय हैं, उतने ही ध्येय हैं। उन अनन्त ध्येयों का उक्त चार प्रकारों में समावेश किया गया है।

धर्मध्यान के अधिकारी—अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयति और अप्रमत्तसंयति—इन सबको धर्मध्यान करने की योग्यता प्राप्त हो सकती है।

शुक्लध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षाएँ

चेतना की स्वाभाविक (उपधि-रहित) परिणति को 'शुक्लध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं[67]—

(१) **पृथक्त्व-वितर्क-सविचार** (सविचारी)—इसमें तीन शब्द आये हुए हैं जिनका अर्थ है—'पृथक्त्व'—भेद, 'वितर्क'—विशेष तर्कणा (द्वादशांगश्रुत), और 'विचार'—'वि'—विशेषरूप से, 'चार' चलना यानी अर्थ-व्यंजन (शब्द) और योग (मन-वचन-काय) में संक्रान्ति (बदलना) करना ही 'विचार' है।

जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों-नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्व श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में, एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, एक पर्याय से दूसरे पर्याय में, एवं मन वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्लध्यान की उस स्थिति को 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' कहा जाता है।

(२) **एकत्व-वितर्क-अविचार** (अविचारी)—इसमें चित्त की स्थिति वायुरहित दीपक की लौ की भांति होती है। जब एक द्रव्य या किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहाँ शब्द, अर्थ एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, तीन योग में से कोई भी एक ही योग ध्येय रूप में होता है। एक ही ध्येय होने के कारण अर्थ, व्यंजन और योग में एकात्मकता रहती है। द्रव्य-गुण-पर्याय में मेरुवत् निश्चल अवस्थित चित्त वाले वाले चौदह, दस और नौ पूर्वधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान करते हैं। वे असंख्यात-असंख्यात गुणश्रेणिक्रम से कर्मस्कन्धों का घात करते हुए ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों को केवलज्ञान के प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही युगपद् नाश करते हैं। तब जीव शुद्ध निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। शुक्लध्यान की इस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचार' कहा जाता है।

(३) **सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति** (प्रतिपाती, अनियट्टी)—द्वितीय शुक्लध्यानावस्था में साधक आत्मा को केवलज्ञान हो जाने से वह समस्त वस्तुओं के द्रव्य और पर्यायों को युगपद् जानने लग जाता है। घातिकर्मों को क्षय कर देता है और अघातिकर्म शेष रहते हैं। अघातिकर्मों को क्षय करने के लिए सभी केवली को 'आउज्जीकरण' की प्रक्रिया करनी पड़ती है। बाद में 'केवली समुद्घात' की प्रक्रिया होती है। केवली समुद्घात सबको नहीं होता। जिनका आयु कर्म कम हो और शेष तीन कर्मों के दलिक अधिक हों तो आयु-सम करने के लिए उनके 'केवली-समुद्घात' होता है। परन्तु जिनके वेदनादि तीन कर्म आयु जितने ही स्थिति वाले हों तो समुद्घात नहीं होता। आयु का कालमान अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर शीघ्र ही 'सूक्ष्म-

www.jainelibrary.org

क्रिय-प्रतिपाती' नामक तीसरा शुक्लध्यान प्रारम्भ किया जाता है। यहीं से समुद्घात की क्रिया प्रारम्भ होती है। ध्यानस्थ केवली भगवान् ध्यान के बल से अपने आत्म प्रदेशों को शरीर के बाहर निकालते हैं। केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं। प्रथम समय में दण्ड, द्वितीय समय में कपाट, तीसरे समय में मथानी और चौथे समय में आत्म प्रदेशों को लोकव्यापी करते हैं। पाँचवे समय में लोक में फैले हुए कर्म वाले आत्म प्रदेशों का उपसंहार (संहरण कर सिकोड़ते हैं) होता है। छठे समय में पूर्व-पश्चिम के प्रदेशों का संहार करके मथानी से पुनः सातवें समय में कपाट का आकार करते हैं और आठवें समय में दण्डाकार को समेटकर पूर्ववत् अपने मूल शरीर में स्थित हो जाते हैं। जिन्होंने केवली समुद्घात की प्रक्रिया नहीं की वे 'योगनिरोध' की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं। योग सहित जीवों की कदापि मुक्ति हो नहीं सकती। अतः 'योगनिरोध' की प्रक्रिया अवश्य करणीय होती है। योगों (मन-वचन-काय) के विनाश को ही 'योगनिरोध' कहते हैं। याद रहे कि केवली समुद्घात करने वाले भी योगनिरोध की प्रक्रिया करते हैं। केवली भगवान् केवली समुद्घात के अन्तर्मुहूर्तकाल व्यतीत हो जाने के बाद तीनों योगों में से सर्वप्रथम बादरकाययोग से बादर मनोयोग को रोकते हैं, बाद में बादरकाययोग से बादरवचन-योग, को पुनः अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् बादरकाययोग से बादरउच्छ्वास-निःश्वास को रोकते हैं। इस प्रकार निरोध करते-करते समस्त बादरकाययोग का निरोध हो जाता है, तब सूक्ष्मकाययोग द्वारा सूक्ष्म-मनोयोग, सूक्ष्मकाययोग द्वारा सूक्ष्मवचनयोग का निरोध करते हैं। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्मउच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करते हैं। पुनः अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर सूक्ष्म-काययोग द्वारा सूक्ष्मकाययोग का निरोध करते हैं। इसमें इन करणों को भी करते हैं, जैसे अपूर्व स्पर्धक और कृष्टिकरण। कृष्टिगत योग वाला होने पर वह 'सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति' ध्यान का ध्याता होता है। 'योगनिरोध' की यह प्रक्रिया है।

(४) **समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाती**—तीसरे ध्यान के बाद के बाद चतुर्थ ध्यान प्रारम्भ होता है। इसमें योगों (मन-वचन-काय का व्यापार) का पूर्णतः उच्छेद हो जाता है। सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाती' कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाती है।

उपाध्याय यशोविजय जी ने हरिभद्र सूरिकृत 'योग बिन्दु' के आधार से शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों की तुलना संप्रज्ञात समाधि से की है।[68] संप्रज्ञात समाधि के चार प्रकार हैं[69]—(१) वितर्कानुगत, (२) विचारानुगत, (३) आनंदानुगत और (४) अस्मितानुगत। उन्होंने शुक्लध्यान के शेष दो भेदों की तुलना असंप्रज्ञात-समाधि से की है।[70]

प्रथम दो भेदों में आये हुए 'वितर्क' और 'विचार' शब्द जैन, योगदर्शन और बौद्ध इन तीनों की ध्यान-पद्धतियों में समान रूप से मिलते हैं। जैन साहित्यानुसार वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान और विचार का अर्थ संक्रमण है।[71] वह तीन प्रकार का माना जाता है—

(१) **अर्थ विचार**—जो द्रव्य अभी ध्येय बना हुआ है, उसे छोड़ पर्याय को ध्येय बना लेना। पर्याय को छोड़ पुनः (फिर) द्रव्य को ध्येय बना लेना अर्थ का संक्रमण है।

(२) **व्यञ्जन विचार**—वर्तमान में जो श्रुतवचन ध्येय बना हुआ है, उसे छोड़ दूसरे श्रुतवचन को ध्येय बना लेना। कुछ समय के बाद उसे छोड़ किसी अन्य श्रुतवचन को ध्येय बना लेना व्यञ्जन का संक्रमण है।

www.jainelibrary.org

(३) **योग विचार**—काययोग को छोड़कर मनोयोग का आलम्बन लेना, मनोयोग को छोड़कर फिर काययोग का आलम्बन लेना योग संक्रमण है।

'संक्रमण' श्रम दूर करने के लिए और नये ज्ञान-पर्यायों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। कायिक ध्यान, मानसिक ध्यान और वाचिक ध्यान पर्यायों के सूक्ष्म चिन्तन से लगी थकावट को दूर करने के लिए द्रव्य का आलम्बन लेते हैं। नई उपलब्धि के लिए ऐसा किया जाता है। जिससे कर्मक्षय शीघ्र होते हैं।

योगदर्शन के अनुसार 'वितर्क' का अर्थ स्थूल भूतों का साक्षात्कार और 'विचार' का अर्थ सूक्ष्म भूतों तथा तन्मात्राओं का साक्षात्कार है।[72]

बौद्ध दर्शन के अनुसार 'वितर्क' का अर्थ आलम्बन में स्थिर होना और 'विचार-विकल्प' का अर्थ उस आलम्बन में एकरस हो जाता है।[73]

इन तीनों परम्पराओं में शब्द-साम्य होने पर भी उनके संदर्भ पृथक्-पृथक् हैं।

आचार्य अकलंक ने ध्यान की प्रक्रिया का सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने कहा है[74]—उत्तम संहनन होने पर भी परीषहों को सहने की क्षमता का आत्मविश्वास हुए बिना ध्यान-साधना नहीं हो सकती। परीषहों की बाधा सहकर ही ध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है। पर्वत, गुफा, वृक्ष की खोह, नदी तट, पुल, श्मशान, जीर्णउद्यान और शून्यागार आदि किसी स्थान में व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु पक्षी, मनुष्य आदि के अगोचर, निर्जन्तु, समशीतोष्ण, अतिवायु रहित, वर्षा, आतप आदि से रहित तात्पर्य यह कि सम बाह्य-आभ्यन्तर बाधाओं से शून्य और पवित्र भूमि पर सुखर्वक पल्यङ्कासन में बैठना चाहिए। उस समय शरीर को सम, ऋजु और निश्चल रखना चाहिए। बाएँ हाथ पर दाहिना हाथ रखकर, न खुले हुए और न बन्द, किन्तु कुछ खुले हुए दांतों को रखकर, कुछ ऊपर किये हुए सीधी कमर और सीधी (गम्भीर) गर्दन किए हुए प्रसन्न मुख और अनिमिष स्थिर सौम्यदृष्टि होकर निद्रा, आलस्य, कामराग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदि को छोड़कर मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेने वाला साधु ध्यान की तैयारी करता है। वह नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक, कपाल या और कहीं अभ्यासानुसार मन को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है। इस तरह एकाग्रचित्त होकर राग, द्वेष, मोह का उपशम कर कुशलता से शरीर क्रियाओं का निग्रह कर मन्द श्वासोच्छ्वास लेता हुआ निश्चित लक्ष्य और क्षमाशील हो बाह्य-आभ्यन्तर द्रव्य पर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क की सामर्थ्य से युक्त हो अर्थ और व्यञ्जन तथा मन, वचन, काय की पृथक्-पृथक् संक्रान्ति करता है। फिर शक्ति की कमी होने से योग से योगान्तर और व्यञ्जन से व्यञ्जनान्तर में संक्रमण होता है।"

शुक्लध्यान का चतुर्थ चरण (भेद) योगों की क्रिया से रहित होने से केवलज्ञानी अयोगीकेवली बन जाते हैं। चतुर्थध्यान को 'व्यवच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती' या 'व्युच्छिन्न-व्युपरत-क्रिया-अप्रतिपाती' कहते हैं। अप्रतिपाती का अर्थ है—अटल स्वभाव वाली अथवा शाश्वत काल तक अयोग अवस्था कायम रहे। तदनन्तर शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर चतुर्थ 'समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति' शुक्लध्यान का ध्याता होता है। इसमें साधक की अवस्था मेरुवत् होती है। यहाँ 'ध्यान' का अर्थ एकान्त रूप से जीव के चिन्ता का निरोध—परिस्पन्द का अभाव है। अन्तिम दो ध्यान संवर निर्जरा का कारण है।

शुक्लध्यान का लक्षण—आगम में शुक्लध्यान के चार लक्षण बताये हैं[75]—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **अव्यथा**—इसे 'अवध' भी कहते हैं। अवध का अर्थ है—अचलता। क्षोभ का अभाव ही 'अव्यथा' है।

(२) **असंमोह**—अनुकूल प्रतिकूल उपद्रव या परीषह आने पर विचलित नहीं होना। या सूक्ष्म-पदार्थ-विषयक मूढ़ता का अभाव।

(३) **विवेक**—सद्सद्विवेक बुद्धि से भेदविज्ञान (शरीर और आत्मा का ज्ञान) होना।

(४) **व्युत्सर्ग**—'त्याग' शरीर और उपधि में अनासक्त भाव।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन— आगम में चार प्रकार के आलम्बन का कथन है[76]—

(१) क्षमा, (२) मुक्ति (निर्लोभता) (३) आर्जव (सरलता) और (४) मार्दव (मृदुता)।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षा—आगमकथित चार अनुप्रेक्षा इस प्रकार हैं[77]—

(१) **अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा**—संसार (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव) परम्परा का चिन्तन करना। भव भ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व और कषाय है। सब कर्मों में प्रधान मोहनीय कर्म है। यह कर्मों का राजा है। इसके कारण ही संसार में जीव अनन्तानन्त भव तक भ्रमण करता रहता है। इसका चिन्तन करना ही 'अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा' है।

(२) **विपरिणामानुप्रेक्षा**—संसार की प्रत्येक वस्तु परिणनशील है। पुद्गल का स्वभाव परिणमन-शील है। अतः वस्तुओं के विविध परिणामों का चिन्तन करना ही 'विपरिणामानुप्रेक्षा' है।

(३) **अशुभानुप्रेक्षा**—संसार में जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, आधि, व्याधि, उपाधि, संयोग, वियोग आदि का चक्र अनादिकाल से चल रहा है। निगोदावस्था में अनन्तानन्त काल व्यतीत किया। चारों गति में भटका। तिर्यंच और मनुष्य भव में भी अशुचि स्थानों में जन्मा-मरा। इस प्रकार पदार्थों की की अशुभता का चिन्तन करना ही 'अशुभानुप्रेक्षा' है।

(४) **अपायानुप्रेक्षा**—कर्मबन्ध के पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये ही संसारवृद्धिकारक हैं। और भी आर्त्त-रौद्र-ध्यान, तीन शल्य, तीन गारव, अज्ञानता, राग, द्वेष और मोह ये सब अपाय हैं। भववर्द्धक हैं। इन दोषों का चिन्तन करना ही 'अपायानुप्रेक्षा' है।

आगमिक टीकानुसार ध्यान के भेद

आगमिक ग्रन्थों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाएँ हैं। निर्युक्तियाँ अनेक हैं। उनमें आवश्यक-निर्युक्त प्राचीनतम है। उसके 'कायोत्सर्ग' प्रकरण में ध्यान का वर्णन है। वहाँ शुभ और अशुभ ऐसे ध्यान के दो भेद किए हैं।[78] आर्त्त-रौद्रध्यान अशुभ हैं और धर्म-शुक्लध्यान शुभ हैं। भाष्य, चूर्णि और टीका में 'प्रशस्त' और 'अप्रशस्त' 'ऐसे दो भेद मिलते हैं।

आगमेतर साहित्यानुसार ध्यान के भेद

निश्चयनय की दृष्टि से ध्यान के कभी भेद हो नहीं सकते। व्यवहारनय की दृष्टि से ही भेद-प्रभेदों का विचार किया गया है। इसलिए १, २, ३, ४, १०, ८० और ४४२३६८ भेद छद्मस्थ ध्यान की दृष्टि से किये गये हैं[79]—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ भेद—पंच परमेष्ठी का लौकिक ध्यान।

२ भेद—शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त, सुध्यान-दुर्ध्यान, ध्यान-अपध्यान, द्रव्य-भाव, स्थूल-सूक्ष्म, मुख्य-उपचार, निश्चय-व्यवहार, स्वरूपालम्बन-परालम्बन आदि।

३ भेद—परिणाम, विचार और अध्यवसायानुसार ध्यान के भेद किये हैं—वाचिक, कायिक और मानसिक; तीव्र, मृदु और मध्य; जघन्य, मध्यम और उत्तम।

४ भेद—ध्येयानुसार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत एवं अन्य दृष्टि से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

१० भेद—कतिपय ग्रन्थों में निम्नलिखित दस भेद मिलते हैं—

(१) अपाय विचय,
(२) उपाय विचय,
(३) जीव विचय,
(४) अजीव विजय,
(५) विपाक विचय,
(६) विराग विचय,
(७) भव विचय,
(८) संस्थान विचय,
(९) आज्ञा विचय और
(१०) हेतु विचय।

८० भेद—(१) स्थान, (२) वर्ण (उच्चारण), (३) अर्थ, (४) आलम्बन और (५) अनालम्बन इन पाँच भेदों का, (१) इच्छा, (२) प्रवृत्ति, (३) स्थिरता और (४) सिद्धि—इन चार से गुणा करने पर २० भेद होते हैं। २० भेदों का (१) अनुकम्पा, (२) निर्वेद, (३) संवेग और (४) प्रशम इन चार इच्छानुयोगों से गुणाकार करने से धर्मध्यान के ८० भेद होते हैं। (५×४×४=८०)

४४२३६८ भेद—मुख्यतः ध्यान के २४ भेद किये गये हैं। जैसे—

(१) ध्यान,
(२) परमध्यान,
(३) शून्य,
(४) परमशून्य,
(५) कला,
(६) परमकला,
(७) ज्योति,
(८) परमज्योति,
(९) बिन्दु,
(१०) परमबिन्दु,
(११) नाद,
(१२) परमनाद,
(१३) तारा,
(१४) परमतारा;
(१५) लय,
(१६) परमलय,
(१७) लव,
(१८) परमलव,
(१९) मात्रा,
(२०) परममात्रा,
(२१) पद,
(२२) परमपद,
(२३) सिद्धि,
(२४) परमसिद्धि।

भवनयोग (सहजयोग-सहजक्रिया-मरुदेवीमाता) के ९६ भेद करणयोग (सहज क्रिया से विपरीत) के भी ९६ भेद और करण के ९६ भेद,

करण के ९६ भेदों का 'ध्यान, परमध्यान' आदि २४ भेदों का गुणाकार करने से—९६×२४= २३०४ भेद होते हैं।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

२३०४ भेदों का भवनयोग से गुणाकार करने से—९६ × २३०४ = २२११८४
२३०४ भेदों का करणयोग से गुणाकार करने से—९६ × २३०४ = २२११८४
२२११८४ + २२११८४ = ४४२३६८ भेद ध्यान के होते हैं।

ध्यान का मूल्यांकन

हमारे सामने दो प्रकार का जगत् है, जैसे—पदार्थ जगत्-आत्म जगत्, स्थूल जगत्-सूक्ष्म जगत्, बाह्यजगत्-अन्तर्जगत्, निमित्तों का जगत्-उपादान का जगत्। पदार्थ-बाह्य-स्थूल जगत् से हम परिचित हैं किन्तु अन्तर्-आत्म-सूक्ष्म जगत् से अनभिज्ञ (अपरिचित) हैं। उसके लिए जागृत होना होगा। क्योंकि ध्यान का लक्ष्य है जीवन का परिवर्तन। मिथ्यादृष्टि से हटकर सम्यग्दृष्टि में आना ही ध्यान की प्रक्रिया है। ध्यान से आध्यात्मिक परम सुख की प्राप्ति होती ही है साथ ही साथ शारीरिक और मानसिक विकास भी उत्तरोत्तर होता रहता है। काया की स्थिरता, मन की निर्मलता, वचन की मधुरता, हृदय की पवित्रता ध्यान से ही प्राप्त होती है। दशा को बदलने के लिए दिशा को बदलना होगा। दिशा का परिवर्तन आचार-विचार-उच्चार की निर्मलता से होता है। चित्तशुद्धि से कर्म-मलादि का शोधन होता है। जैसे—मैले-कुचैले वस्त्र को पानी से, लोहे को अग्नि से, कीचड़ को सूर्य किरणों से शोधन किया जाता है वैसे ही ध्यान रूपी पानी, अग्नि, सूर्य से कर्ममल का परिशीलन (छानन) किया जाता है।[80] अतः ध्यानाग्नि से ही कर्म ईंधन को जलाया जा सकता है। ध्यान जीवन परिवर्तन की परम औषधि है। जन्म मरण का रोग भयंकर है। द्रव्यरोग की दवा डॉक्टर के पास है, भावरोग की नहीं। वह तो ध्यानियों के ही पास है। देखिए सनत्कुमार चक्रवर्ती, चिलाति चोर आदि भव्यात्माओं ने ध्यान बल से भावरोग को नाश कर दिया। ऐसे साधक आत्मा एक दो तीन नहीं बल्कि अनेकों हैं। उन्होंने आहारशुद्धि, दैनिक चर्या शुद्धि, विचारशुद्धि, व्यवहारशुद्धि, चित्तशुद्धि तथा योगशुद्धि (मन वचन काय व्यापार) से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक बल प्राप्त किया। वह बल अनेक प्रकार की लब्धियों को प्राप्त कराता है। पर स्मरण रहे महावीर की साधना में चमत्कार को महत्व नहीं है किन्तु सदाचार, आत्मशुद्धि और रत्नत्रय साधना को ही है। ध्यान प्रक्रिया तब ही सिद्ध होगी जबकि रत्नत्रय साधना का उत्तरोत्तर विकास होगा। जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहा है। रत्नत्रय की साधना आध्यात्मिक साधना है। आध्यात्मिक साधना का स्वर रहा है—मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को जानो, देखो और अनुभव करो। ज्ञान और क्रिया के सुयोग से मोक्ष मिलता है। इन दोनों के बिना ध्यान साधा नहीं जाता। ध्यान से कषायों का शमन होता है और कषायों का सर्वथा शमन (नाश) ही मोक्ष है।[81]

ध्यान कराया नहीं जाता, वह अनुभूति का विषय है। महावीर की समस्त साधना विधि का परिचय 'ध्यान' शब्द से न होकर 'समता' से होता है। समत्व योग की साधना ही ध्यान की साधना है। ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है। प्रशस्त ध्यान से केवल साम्य ही स्थिर नहीं होता, अपितु कर्ममल से मलिन जीव की शुद्धि होती है।[82] अतः ध्यान किया नहीं जाता वह फलित होता है। हमारे शारीरिक मानसिक सन्तुलन दशा का परिणाम ही ध्यानावस्था है। वर्तमान कालीन परिस्थिति में शान्ति पाना हो तो एकमात्र परम औषधि है 'ध्यान'। ध्यान की प्रक्रिया से आत्मिक शान्ति मिलती है।[83]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ ग्रन्थ एवं सन्दर्भ स्थल

१. (क) "ध्यै-ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम् ।
एकाग्र चित्तनिरोध इत्यर्थः । "ध्यै चिंतायाम्" ।— अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ४, पृ० १६६२

(ख) (ध्यै+ल्युट) "ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते" । —संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ० ५७५

२. युजृपी योग (गण ७) हेमचन्द्र धातुपाठ
युँचि च समाधि । (गण ४) हेमचन्द्र धातुपाठ ।

३. (क) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । —पातंजल योगसूत्र १/२

(ख) समत्वं योग उच्यते । — गीता २/४८

(ग) संयोगो योगवत्युक्ता जीवात्मा परमात्मा ।
—उद्धृत, जिनवाणी, ध्यान-परिशिष्टांक, नवम्बर १९७२

४. (क) तत्त्वार्थसूत्र ६/१—२

(ख) सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ६/१—२

(ग) नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य, पद्मप्रभमलधारी टीका) गा० १३७-१३८ एवं टीका ।

(घ) योगविंशति (हरिभद्र) गा० १

(ङ) भगवती आराधना (शिवार्य) भा० १ गा० १८२७ एवं अपराजित टीका पृ० ४४

(च) समिति गुप्ति साधारणं धर्मं व्यापारत्वं योगत्वं ।
— उद्धृत, योगदृष्टि समुच्चय (डा० भगवानदास मनुभाई मेहता) पृ० २१

५. उद्धृत, योगसार प्राभृत, प्रस्तावना, पृ० १७ ।

६. (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४८०-४८२, ४७०, (ख) सर्वार्थसिद्धि ९/२८ ।

७. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचन्द्र टीका, पृ० ३५६ ।

८. (क) आचारांगसूत्रम् सूयगडांगसूत्रम् (टी० शी०—पुण्यविजयजी) २/८/२८ ।

(ख) सूत्रकृतांगम् (शी० टी० जवाहरमलजी म०) (भा० ३) १५/३ ।

(ग) पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) गा० १४४ टीका पृ० २०९ ।

९. सूत्रकृतांगम् (शी० टी० जवाहरमलजी म०), भा० ३, १५/३, भा० २ टीका पृ० १२९ ।

१०. आचारांगसूत्रम् सूयगडांगसूत्रम् (शी० टी० पुण्यविजय जी) टी० पृ० १६८ ।

११. (क) तत्त्वार्थसूत्र ९/१ ।

(ख) प्रशमरति प्रकरणम् (उमास्वाति) गा० १३८ एवं टीका ।

(ग) योगसार प्राभृत (अमितगति) ५/१ । (घ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ९५ ।

१२. (क) योगसार प्राभृत ६/१ ।

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ० ४९ ।

(ग) सिद्धान्त सार प्रकरणम् १०/१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. (क) योगशास्त्र ४/८६ ।
(ख) प्रशमरति प्रकरणम् गा० १५६ एवं उसकी टीका ।
(ग) योगसार प्राभृत ६/१ ।
(घ) सिद्धान्तसार संग्रह १०/१-३ ।

१४. ध्यान शतक (जिनभद्रगणि क्षमाक्षमण) गा० ९६ ।

१५. (क) सिद्धान्तसार संग्रह ११/३३ ।
(ख) अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ४, पृ० १६६१ ।

१६. (क) आवश्यकनिर्युक्ति (भा० २) पृ० ७० । (ख) ध्यान शतक गा० २ ।
(ग) अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ४ पृ० १६६२ ।

१७. (क) एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । —तत्त्वार्थसूत्र ९/२७
(ख) सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ९/२७ ।
(ग) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र (रामसेनाचार्य) गा० ५६ ।
(घ) अंतो-मुहुत्त-मेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं । —स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४७०

१८. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४७० ।

१९. (क) अग्रं मुखं । एकमग्रमस्येत्येकाग्रः । —सर्वार्थसिद्धि ९/२७
(ख) अंग्यते तदंगमिति तस्मिन्निति वाऽग्रं मुखम् । —तत्त्वार्थवार्तिक ९/२७
(ग) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ५७-५८ ।

२०. (क) व्यग्रं हि ज्ञानं न ध्यानमिति । —तत्त्वार्थवार्तिक ९/२७
(ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ५९ ।

२१. (क) सर्वार्थसिद्धि ९/२७ । (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ९/२७ ।
(ग) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ६१ ।

२२. (क) सर्वार्थसिद्धि ९/२७ । (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ९/२७ ।
(ग) तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३० ।

२३. (क) णाणं अप्पा सव्वं जहा सुयकेवली तम्हा । —समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य) गा० १०
(ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ६८ ।

२४. (क) तत्त्वार्थ सूत्र ९/२७ । (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ९/२७ ।
(ग) ध्यानशतक (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण) गा० ८-४
(घ) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ६६ ।

२५. ध्यायत्यर्थानिनेनेति ध्यानं करण साधनम् ।
—आर्ष २१-१३ उद्धृत, तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र, पृ० ६६

२६. (क) तत्त्वार्थवार्तिक ९/२७ ।
(ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र (रा० सेना०) गा० ६४
(ग) तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. (क) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२७।
(ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ६७, ७१।
२८. (क) १०८ उपनिषद् (साधना खण्ड) "योग चूडामणि उपनिषद्" पृ० ७०।
(ख) ध्यानयोग रहस्य (स्वामी शिवानन्द) पृ० १२६-१२७।
२९. (क) आत्म प्रभा (द० ल० निरोसेकर) पृ० १३७-१३८।
(ख) ध्यानयोग रहस्य पृ० १२६-१२७।
३०. (क) लययोग संहिता, उद्धृत कल्याण साधना अंक पृ० १३३।
(ख) गोरक्षा संहिता (डॉ० चमनलाल गौतम) २/६३-६४।
(ग) सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति (गोरखनाथ) २/२६-२९, १०-२३।
३१. (क) योगशास्त्र, उद्धृत कल्याण साधना अंक पृ० १३२।
(ख) पुराण पर्यालोचनम् (पं० परि) पृ० ३२७।
३२. (क) योगशास्त्र, उद्धृत, कल्याण साधना अंक पृ० १३४।
(ख) विवेक चूडामणि गा० ९५-९६।
(ग) राजयोग संहिता, उद्धृत, कल्याण साधना अंक, पृ० १३५।
(घ) योगोपनिषदः—'तेजोबिन्दूपनिषद्' १/३४-३६।
३३. (क) समकालीन भारतीय दर्शन (डॉ० श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना) पृ० ७७, २५६।
(ख) ज्ञानयोग, राजयोग (विवेकानन्द) पृ० २३५-३४८, ३८५, भूमिका पृ० ५।
३४. (क) सुत्तपिटके 'अंगुत्तरनिकाय'—३/७/९।
(ख) अभिधम्मपिटके 'धम्म संगपिपालि' ४/२/४८।
३५. विसुद्धि मग्ग (खन्धनिद्देसो) पृ० ३८०-३८२।
३६. विसुद्धि मग्ग (खन्धनिद्देसो) पृ० ३८२।
३७. दि सिक वर्ल्ड हेरीबार्ड, कैरिंगटन पृ० १४१।
—उद्धृत, ध्यानयोग (अंक) डॉ० नरेन्द्र भानावत पृ० १६०।
३८. (क) नवीन मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ० ४।
(ख) सरल मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ० १३।
(ग) योग मनोविज्ञान (डॉ० शान्ति प्रकाश आत्रेय) पृ० ३२७।
३९. सरल मनोविज्ञान पृ० १३६।
४०. सरल मनोविज्ञान पृ० १३६।
४१. मेनुयल ऑफ सायकोलॉजी, स्टाउट पृ० १२५।
—उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ० नरेन्द्र भानावत) पृ० १६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. (क) योगा एण्ड पर्सिनाल्टी (के० एस० जोशी) पृ० १४४।
—उद्धृत, ध्यानयोग—(डॉ० नरेन्द्र भानावत) 'अंक' पृ० १६३
(ख) दि सिक वर्ल्ड पृ० १८८। —उद्धृत, ध्यानयोग—(अंक) पृ० १६३

४३. सरल मनोविज्ञान पृ० ६।

४४. उद्धृत, ध्यानयोग रूप और दर्शन (डॉ० नरेन्द्र भानावत) पृ० २२३।

४५. (क) समाधि-तन्त्र (देवचन्द) गा० ३५-३६।
(ख) योग दीपक (बुद्धि सागर) गा० ३०-३३।
(ग) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ७८।
(घ) अध्यात्म तत्त्वालोक ६/५, ६/१०।

४६. (क) ध्यानशतक गा० २८-२९। (ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र गा० ३७।

४७. (क) स्थानांग सूत्र (आत्मा० म०) ४/१/१२। (ख) तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) ६/७।
(ग) कुन्दकुन्द भारती के 'बारस अणुपेक्खा' में देखे।

४८. (क) 'कण्हपक्खिए'। —आयारदसा (मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल') ६/१४
(ख) नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य) १/१५। (ग) पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) गा० १६-२०।

४९. असावचरमावर्त्ते, धर्मं हरति पश्यतः। —ज्ञानसार (उपा० यशोविजयजी) २१/७

५०. (क) 'सुक्कपक्खिए'। —आयारदसा ६/१६
(ख) योगबिन्दु (हरिभद्र) २७८।

५१. (क) योगशतक (हरिभद्र) गा० ६। (ख) हरिभद्र योगभारती पृ० २६।

५२. (क) अन्तर्मुहूर्तकालं चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि यत्तदछद्मस्थानां ध्यानं।
—आवश्यकनिर्युक्ति (भा० २) पृ० ७१
(ख) योगणिरोहो जिणाणं तु। —ध्यानशतक गा० ३

५३. (क) गुणस्थान क्रमारोह गा० ३७, ३९। (ख) गोम्मटसार—'जीवकाण्ड' गा० ५०-५३।

५४. स्थानांगसूत्र (आत्मा० म०) ४/१/१२।

५५. (क) स्थानांग सूत्र ४/१/१२। (ख) ध्यानशतक गा० ७-१०, १३।
(ग) ज्ञानार्णव २५/२५-३२, ३४-३६। (घ) आचारांग सूत्र ६/१/६०४।
(ङ) सिद्धान्तसार संग्रह (नरेन्द्रसेनाचार्य) ११/३७-३८।
(च) तत्त्वार्थसूत्र ६/३४।

५६. (क) स्था० सू० ४/१/१२। (ख) ध्यातशतक गा० १५-१७।

५७. (क) स्था० सू० ४/१/१२। (ख) ध्यानशतक १६।
(ग) सिद्धान्तसार संग्रह ११/१२, ४३, ४५। (घ) ध्यानकल्पतरु पृ० १२।
(ङ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४७५। (च) ज्ञानार्णव २६/४-१२, १६, २९।

५८. (क) स्था० सू० ४/१/१२। (ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार ४४, गा० ४५१-४५२।
(ग) ध्यान कल्पतरु (पू० अमो०) पृ० २१। (घ) ध्यानशतक गा० २६।
(ङ) ध्यान दीपिका (गु० विजयकेसरसूरि) गा० १२१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५९. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ९/३६ टीका ।
(ग) सर्वार्थसिद्धि ९/३६ टीका ।
(घ) षट्खण्डागम (वीरसेनाचार्य) भा० ५, पृ० ७०, ७२ ।
(ङ) योगशास्त्र १०/९-१० ।
(च) ध्यानशतक गा० ४५-६२ ।
(छ) ज्ञानार्णव ३८/२-३, ६, ११-१२, ९, १-१५-१६ ।
(ज) सिद्धान्तसार संग्रह ११/५१-५२-५८ ।
(झ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० २७, ३२, ३३, ६७, एवं पृ० ३६७ ।
(ञ) गुणस्थान क्रमारोह (रत्नशेखर सूरि) गा० ३ । योगसार प्राभृत १/१३-१४
—उद्धृत, धर्मरत्न प्रकरण ।

६०. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) ध्यानशतक गा० ६७-७८ ।

६१. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/३०८ ।
(ग) भगवती सूत्र २५/७ । (घ) ध्यानशतक गा० ४२ ।

६२. (क) स्था० सू० ४/१/१२ । (ख) भगवती सूत्र २५/७ ।
(ग) ज्ञानार्णव २/३१, ३६, ३८-४०, १, २, (घ) अध्यात्म तत्त्वालोक ४, ७, ९/११-२२ ।
(ङ) प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति) गा० १५१-१५२ ।
(च) शांत सुधारस पृ० ३५, ६६, ३२, ६४-६९ ।
(छ) योगशास्त्र ४/६२-६९ ।
(ज) सूत्रकृतांग २/१/१३ ।
(झ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ३४, ७४, ७९, ६६, ६४, ६६, ३८ ।

६३. धर्मादनपेतं धर्म्यम् । तत्त्वार्थभाष्य ९/२८

६४. तत्त्वानुशासन ५२, ५५ ।

६५. तत्त्वानुशासन ५१ ।

६६. तत्त्वानुशासन ५३, ५४ ।

६७. (क) स्था० सू० ४/१/१२ ।
(ख) षट्खण्डागम (धवला टी०) भा० ५, पृ० ७७-७८, ८४-८५, ८७ ।
(ग) तत्त्वार्थ सूत्र ९/४१ । सर्वार्थसिद्धि, ९/४४ ।
(घ) योगशास्त्र ११/५, ६, ८, ५१, ५२, ५३-५५, ५६-५७ ।
(ङ) ध्यानशतक ।
(च) ज्ञानार्णव ४२/९, १३, १५, ४३, ५१ ।
(छ) सिद्धान्तसार संग्रह ११/७१-७२, ७६ ।
(ज) महापुराण (आ० जिनसेन) २/१/१७०-१७१, १७५, १७८, १८३, १८४, १८५ ।
(झ) ओववाइय सूत्र, पृ० ३६-३७, पण्णवणासुत्त ३६/७१ ।
(ञ) सचित्र अर्धमागधी कोश (शतावधानी रत्नचन्द्र मुनि) भा० २ पृ० ९०-९१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ट) विशेषावश्यकभाष्य गा० ३०५१ एवं टीका पृ० २४२।
(ठ) खवगसेढी (स्वोपज्ञवृत्ति-श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वर) पृ० ४४८-४४६।
(ड) प्रशमरतिप्रकरण गा० २७४-२७५ एवं टीका, २७८-२८०।

६८. (क) जैनदृष्टया परीक्षित पातञ्जलयोगदर्शनम् १/१७-१८।
(ख) योगबिन्दु गा० ४१८।

६९. पातञ्जल योगदर्शनम् १/१७।

७०. (क) जैनदृष्टया परीक्षित पातञ्जल योगदर्शनम् १/१७, १८।
(ख) योगबिन्दु ४२०-२१।

७१. तत्त्वार्थ सूत्र ६/४४।

७२. पातञ्जल योगदर्शन १/४२-४४।

७३. विसुद्धिमग्ग भा० १ पृ० १३४।

७४. तत्त्वार्थवार्तिक ६/४४।

७५. (क) स्था० सू० ४/१/१२। (ख) ध्यानशतक गा० ६०-६२।

७६. (क) स्था० सू० ४/१/१२। (ख) भगवती सू० २५/७।

७७. (क) स्था० सू० ४/१/१२। (ख) भगवती सू० २५/७।
(ग) ध्यानशतक गा० ८८। (घ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ६६-७२, ३८, ८६

७८. (क) आवश्यकनिर्युक्ति गा० १४६५। (ख) आवश्यकचूर्णि पृ० २१५ (भा० २)।

७९. (क) योगशास्त्र ७/८। (ख) ज्ञानार्णव २५/१७, २०।
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४८० एवं टीका पृ० ३६६, ३७०, ३६७।
(घ) तत्त्वानुशासन (राम० से०) गा० ४७-४८। (ङ) ध्यानदीपिका (गु०) गा० ६७।
(च) अभिधान राजेन्द्र कोश भा० ४, पृ० १६६३।
(छ) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२८। (ज) उपासकाध्ययन ३६/७०६-७११।
(झ) श्रावकाचार संग्रह भा० १ पृ० ४०६।
(ञ) हारिभद्र योग भारती (मुनि जयसुन्दरविजय) टी० पृ० ८, गा० २, ४, ८।
(ट) ध्यान विचार। —उद्धृत, नमस्कार स्वाध्याय (प्रा० वि०) पृ० २२५-२४६।

८०. (क) ध्यानशतक (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण) गा० ६७-६८।
(ख) ज्ञानार्णव २५/७।

८१. उत्तरा० सू० ३२/२।

८२. (क) योगशास्त्र ४/११२। (ख) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) २५/२-४।

८३. विशेष जिज्ञासु लेखिका का 'जैन साधना पद्धति में ध्यानयोग' शोध प्रबन्ध देखें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org